

आह्वान पुस्तिका-5

क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन

एक नयी शुरुआत से जुड़े कुछ बुनियादी
सवाल और कुछ बुनियादी समस्याएँ

आह्वान सम्पादक मण्डल



राहुल फ़ाउण्डेशन

लखनऊ

ISBN 978-81-906330-9-3

मूल्य : रु. 15.00

पहला संस्करण : जनवरी, 2008

प्रकाशक : राहुल फ़ाउण्डेशन
69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज,
लखनऊ-226 006 द्वारा प्रकाशित

आवरण : रामबाबू

टाइपसेटिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

मुद्रक : क्रिएटिव प्रिण्टर्स, 628/एस-28, शक्तिनगर, लखनऊ

Krantikari Chhatra-Yuva Aandolan
by Ahwan Editorial Board

प्रकाशकीय

पिछले सत्रह वर्षों से प्रकाशित हो रही छात्रों-युवाओं की पत्रिका 'आह्वान कैम्पस टाइम्स' (अब यह 'मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान' नाम से प्रकाशित हो रही है) शिक्षा, बेरोज़गारी, संस्कृति और युवाओं से जुड़े विभिन्न सामाजिक प्रश्नों के साथ ही छात्र-युवा आन्दोलन के सवालियों पर लगातार प्रखर विचारोत्तेजक सामग्री देती रही है।

पत्रिका के हाल के कुछ अंकों में प्रकाशित अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री को हम पुस्तिकाओं के रूप में प्रस्तुत करते रहे हैं ताकि व्यापक छात्र-युवा आबादी के बीच इन्हें पढ़ा जा सके। इसी दृष्टि से 'आह्वान' के पिछले तीन अंकों के सम्पादकीय लेखों को हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

पिछले कुछ दशकों में भारतीय समाज में आये परिवर्तनों के साथ ही उच्च शिक्षा संस्थानों के बदलते वर्ग-चरित्र पर दृष्टिपात करते हुए इन लेखों में क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन के समक्ष मौजूद नयी चुनौतियों की चर्चा की गयी है और यह विचार प्रस्तुत किया गया है कि क्रान्तिकारी छात्र-युवाओं को मेहनतकश वर्गों के बीच जाना चाहिए, उनके साथ घनिष्ठ रिश्ते बनाने चाहिए, मजदूर वर्ग और व्यापक मेहनतकश जनता के संघर्षों में प्रत्यक्ष भागीदारी करनी चाहिए और उसके संघर्षों के साथ अपने संघर्षों को जोड़ना चाहिए क्योंकि ऐसा किये बिना वे उस पूँजीवादी व्यवस्था को क़तई नष्ट नहीं कर सकते जो सभी समस्याओं की जड़ है।

हमें आशा है कि यह पुस्तिका भारत में क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन के गतिरोध को तोड़ने और आगे की राह निकालने के उद्यम में मददगार होगी।

— राहुल फ़ाण्डेशन

20.1.2008

छात्र-युवा आन्दोलन : अप्रोच और दृष्टिकोण के बारे में कुछ और स्पष्टीकरण

आधुनिक युग के इतिहास के किसी भी दौर में, किसी भी देश में क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन में छात्रों-युवाओं की अहम भूमिका रही है। लेकिन इस तथ्य को स्वीकारते हुए, छात्रों-युवाओं की आबादी के प्रति एक गैरवर्गीय नजरिया अपनाना या केवल मध्यवर्गीय युवा आबादी की भूमिका पर बल देना ग़लत और नुक़सानदेह होता है।

वर्गों में बँटे हुए समाज में केवल वर्ग-संघर्ष ही इतिहास-विकास की कुंजीभूत कड़ी हो सकता है। केवल शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध वाले वर्गों के आपसी संघर्ष से ही इतिहास आगे की ओर गतिमान होता है। पूँजीवादी समाज में, छोटे-मँझोले किसान और शहरी-ग्रामीण मध्य वर्ग के निचले-मँझोले संस्तर भी पूँजीपतियों और उनके सहयोगी शोषक वर्गों के शोषण के शिकार होते हैं। लेकिन पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष की अगुवाई सर्वहारा वर्ग ही कर सकता है, क्योंकि यही वह वर्ग है जो हर प्रकार के निजी स्वामित्व से वंचित होता है और जीवित रहने के लिए बाज़ार में अपनी श्रमशक्ति बेचने के लिए मजबूर होता है। निजी सम्पत्ति का उन्नततम रूप बर्जुआ निजी सम्पत्ति है, जिसका विपरीत ध्रुव सर्वहारा वर्ग है जो समस्त सामाजिक सम्पदा का सर्जक है लेकिन जिसके पास खोने के लिए अपनी बेड़ियों के सिवा कुछ भी नहीं होता। पूँजीवादी समाज का बुनियादी अन्तरविरोध यह है कि उत्पादन की अतिउन्नत प्रक्रिया सामाजिक होती है (ज़्यादा से ज़्यादा लोग उन्नत मशीनों पर एकसाथ परस्पर तालमेल करके उत्पादन करते हैं और यह समाजीकरण लगातार बढ़ता जाता है), जबकि 'एप्रोप्रियेशन' और संचय की प्रक्रिया निजी प्रकृति की होती है। थोड़े-से परजीवियों के हाथों में केन्द्रित पूँजी दुनियाभर के विशाल कारख़ानों और फ़ार्मों में कार्यरत विराट उत्पादक शक्तियों को नियन्त्रित करती है। पूँजी के संकेन्द्रण की आम प्रवृत्ति ही पूँजीपतियों के बीच देशों के भीतर, और पूरी दुनिया के पैमाने पर गलाकाटू होड़ और इज़ारेदारी या एकाधिकार की प्रवृत्ति को जन्म देती है। सामाजिक धरातल पर पूँजीपति वर्ग निजी 'एप्रोप्रियेशन' (यानी हस्तगतकरण) और संचय का प्रतिनिधित्व करता है और सर्वहारा वर्ग निजी 'एप्रोप्रियेशन' को समाप्त करके, उसे समाजीकृत करके यानी

उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व को समाप्त करके, पूँजीवाद को उखाड़ फेंकता है और वर्गविहीन समाज की दिशा में संक्रमण की शुरुआत करता है जिसे समाजवादी संक्रमण की अवधि कहा जाता है। सर्वहारा क्रान्ति के कुछ शुरुआती प्रयोग भले ही विफल हों, लेकिन अन्ततोगत्वा यही होना है, क्योंकि समाज-विकास के नियम यही बताते हैं।

भारत भी एक पूँजीवादी देश है। यहाँ सामन्ती अवशेष अभी भी मौजूद हैं, लेकिन तमाम पिछड़ेपन के बावजूद यह एक पूँजीवादी समाज है जहाँ मजदूर वर्ग न केवल क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति है, बल्कि गाँवों और शहरों के मजदूरों की कुल आबादी पचास करोड़ से भी अधिक होने के चलते यही नयी समाजवादी क्रान्ति की प्रमुख ताकत भी है। गाँवों-शहरों के अर्द्धसर्वहाराओं और गरीब किसानों को जोड़ देने पर यह आबादी 65-70 करोड़ के आसपास पहुँच जायेगी। निम्न-मध्य वर्ग और निम्न-मध्यम किसान भी पूँजीवाद के हाथों अपनी तबाही के कारण क्रान्ति के निकट सहयोगी वर्ग हैं। छात्रों और नौजवानों की भारी आबादी भी इन्हीं वर्गों से आती है और अपनी वर्ग-प्रकृति के कारण ही क्रान्तिकारी संघर्ष में अहम भूमिका निभाने की सम्भावना से लैस है।

जब हम क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन की बात करते हैं, तो हमारा तात्पर्य आम जनता के विभिन्न वर्गों से आने वाले छात्रों-युवाओं से ही होता है। लेकिन यदि महानगरों के कॉलेजों-विश्वविद्यालयों के कैम्पसों की बात करें तो वहाँ एकदम गरीब घरों के छात्र कम ही पहुँच पाते हैं। वहाँ आधी के आसपास आबादी या तो पूँजीपतियों, व्यापारियों, अफसरों, धनी किसानों जैसे परजीवी वर्गों के घरों से और गाँव-शहर के उन मध्यवर्गीय घरों से आती है जो इस व्यवस्था से अभी उम्मीद पाले हुए हैं और ज़िन्दगी की परेशानियों को झेलते हुए भी, क्रान्तिकारी पक्ष चुनने के बजाय बीच में लटकते हुए हैं। क्रान्तिकारी छात्र आन्दोलन की केन्द्रीय और अगुवा ताकत आम मेहनतकश घरों और निम्न-मध्यवर्गीय घरों से आने वाले वे छात्र ही हो सकते हैं जो पूँजीवाद के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष के लिए तैयार हों और वैचारिक स्तर पर जागरूक हों। जो छात्र मध्य वर्ग और मध्यम किसानों के बीच के संस्तरों से आते हैं, उन्हें प्रचार और शिक्षा के द्वारा क्रान्तिकारी पक्ष में लाना क्रान्तिकारी छात्र आन्दोलन का एक अहम कार्यभार है।

गरीब घरों के जो नौजवान कॉलेजों-विश्वविद्यालयों के कैम्पसों तक नहीं पहुँच पाते, उन्हें उनकी ज़िन्दगी ही यह सबक सिखला देती है कि पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में शिक्षा और रोज़गार का विशेषाधिकार ज़्यादातर मुँह में चाँदी का चम्मच लेकर पैदा हुए लोगों के लिए ही सुरक्षित है। खासकर, उदारीकरण-निजीकरण के दौर में, शिक्षा ज़्यादा से ज़्यादा धनी लोगों द्वारा खरीदी जा सकने वाली और पूँजीपतियों द्वारा बेची जाने वाली चीज़ बनती जा रही है। आम घरों के

लड़के छोटे शहरों-कस्बों के कॉलेजों से जो डिग्रियाँ हासिल करते हैं, वे नौकरी दिलाने की दृष्टि से एकदम बेकार होती हैं और शिक्षा की गुणवत्ता की दृष्टि से भी उनका कोई मोल नहीं होता। वर्गीय अन्तर्वस्तु की दृष्टि से छोटे शहरों-कस्बों के इन छात्रों के रैडिकल व्यवस्था-विरोधी छात्र संगठन बनाने की सम्भावना अधिक है, हालाँकि चेतना के सापेक्षिक पिछड़ेपन के चलते उनके बीच अधिक व्यापक, सघन और लम्बे क्रान्तिकारी प्रचार और शिक्षा की कार्यवाही आवश्यक होगी। बड़े महानगरों के उन्नत शिक्षा संस्थानों में उच्च-मध्य वर्ग के छात्रों की बहुतायत होने के कारण वहाँ क्रान्तिकारी छात्र आन्दोलन का आधार उतना व्यापक नहीं होगा, लेकिन वहाँ से उन्नत चेतना वाले क्रान्तिकारी तत्त्वों की भर्ती की सम्भावना अधिक होगी।

निम्न-मध्य वर्ग के जो युवा या तो उच्च शिक्षा के दायरे में घुस ही नहीं पा रहे हैं, या कैम्पसों से बाहर धकेले जा रहे हैं, या बस नाम की डिग्री भर हासिल कर पा रहे हैं, वे लम्बी बेरोजगारी झेलने या अर्द्धबेरोजगार के रूप में कोई पार्टटाइम नौकरी करने, ट्यूटर या सेल्समैन का काम करने या दिहाड़ी मजदूरों की कतारों में शामिल होने के लिए बाध्य हैं, वे क्रान्तिकारी नौजवान आन्दोलन की मुख्य ताकत बनेंगे। शिक्षा और रोजगार की लड़ाई लड़ते हुए वे मजदूर आन्दोलन के साथ नजदीकी से जुड़ेंगे और फिर पूँजीवाद के विरुद्ध साझा लड़ाइयों में कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ेंगे।

लेकिन युवा आन्दोलन को यदि हम साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी क्रान्तिकारी संघर्ष के परिप्रेष्य में देखते हैं तो हमें इसे वर्गीय नजरिये से देखना होगा और सबसे पहले हमारा ध्यान मजदूरों की युवा पीढ़ी पर — यानी युवा मजदूरों और मजदूरों के युवा बेटों पर होना चाहिए। कार्ल मार्क्स ने अपने प्रारम्भिक लेखन (1844) में ऐसे युवाओं के लिए “मजदूर वर्ग की उदीयमान पीढ़ी” संज्ञा का प्रयोग किया (कलेक्टेट वर्क्स, खण्ड 2, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1975, पृ. 168-69)। आगे चलकर उन्होंने लिखा : “मजदूर वर्ग का अधिक प्रबुद्ध हिस्सा पूरी तरह से समझता है कि इसके वर्ग का, और इसलिए सम्पूर्ण मानवजाति का भविष्य मजदूरों की उदीयमान पीढ़ी के निर्माण पर निर्भर करता है” (कलेक्टेट वर्क्स, खण्ड 3, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1975, पृ. 197)। लेनिन ने भी छात्र-युवा आन्दोलन के प्रति हमेशा ही वर्गीय दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया और पूँजीवादी और निम्न-पूँजीवादी राजनीतिज्ञों द्वारा नौजवानों के बीच के सामाजिक वर्गीय भेद को छुपाने तथा वर्ग-संघर्ष में सर्वहारा वर्ग के साथ मिलकर भाग लेने से उन्हें अलग करने की हर कोशिश का विरोध किया। युवा आन्दोलन के क्रान्तिकारी चरित्र का पैमाना युवाओं की आयु-विशेषता के बजाय उन्होंने वर्ग-चरित्र को माना, यानी इस बात को माना कि युवा आन्दोलन की मुख्य शक्ति मजदूर, अन्य मेहनतकश वर्गों और

पूँजीवाद के हाथों तबाह हो रही मध्यवर्गीय जमातों के युवा हैं या नहीं, और यह कि, युवा आन्दोलन मजदूरों और अन्य मेहनतकशों के क्रान्तिकारी संघर्ष के साथ जुड़ा हुआ है या नहीं। नदेज़्दा क्रूस्काया ने 'लेनिन अबाउट यूथ' शीर्षक लेख में लिखा है : "क्रान्तिकारी युवा आन्दोलन के प्रति सामान्यतः ध्यान देते हुए व्लादीमिर इल्यीच ने मजदूर युवाओं के क्रान्तिकारी आन्दोलन को अत्यधिक महत्त्व दिया, जिनमें जोश के साथ वर्गीय अन्तःप्रवृत्ति भी होती है, और जब वे मजदूर वर्ग के संघर्ष में शामिल होते हैं, तो वे अपने खुद के हित के लिए लड़ते हैं और उस संघर्ष में बढ़ते एवं मजबूत होते हैं।"

मजदूर वर्ग के नौजवानों के अतिरिक्त लेनिन ने क्रान्तिपूर्व रूसी समाज में गाँवों में पूँजीवादी विकास की लहर के साथ ही विकसित हो रहे एक नये प्रकार की क्रान्तिकारी सम्भावना से लैस उस नौजवान किसान के महत्त्व को विशेष रूप से रेखांकित किया, जो शहरों में क्रान्तिकारी आन्दोलन में लगे व्यक्तियों से मिलता था, अख़बार पढ़ता था, अपने गाँव में आन्दोलनात्मक काम करता था तथा बड़े ज़मींदारों, पादरियों और ज़ारशाही के अफ़सरों के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान करने वाले बोल्शेविक नारों की व्याख्या करता था। लेनिन का मानना था कि ऐसे चेतनशील ग्रामीण युवाओं की गतिविधियाँ व्यापक आम मेहनतकश किसान आबादी को क्रान्तिकारी आन्दोलन के दायरे में धीरे-धीरे खींच लाने में मदद करती हैं (देखें, लेनिन : 'लेक्चर ऑन द 1905 रिवोल्यूशन', कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 23, पृ. 243)।

इस आम पहुँच की रोशनी में आज के भारतीय समाज का अध्ययन हमें कुछ ज़रूरी नतीजों तक पहुँचाता है। यूँ तो भारतीय समाज के पूँजीवादी रूपान्तरण के साथ ही गाँवों के छोटे-मझोले किसानों की तबाही एवं सर्वहाराकरण और शहरों की ओर उनके प्रस्थान का सिलसिला पिछले लगभग चार दशकों से जारी है, लेकिन विशेषकर 1990 के बाद से इस प्रक्रिया में काफी तेज़ी आयी है। आप देश के किसी भी औद्योगिक क्षेत्र में जाइये, मजदूरों की झुग्गी-बस्तियों में आपको अठारह से पैंतीस वर्ष के बीच की उम्र वाले युवा मजदूरों की ही बहुतायत देखने को मिलेगी। यह नौजवान आबादी ज़्यादातर दिहाड़ी और ठेका मजदूर के रूप में कारख़ानों में दस घण्टे से चौदह घण्टों तक हड्डियाँ गलाती है और चालीस से सत्तर रुपये के बीच दिहाड़ी पाती है। सीलनभरी अँधेरी कोठरियों में एक साथ कई मजदूर रहते हैं, या एक मजदूर परिवार सहित रहता है। इन बस्तियों में सार्वजनिक सुविधाएँ या तो हैं ही नहीं या बस नाममात्र को हैं। ज़्यादातर यूनियन नियमित नौकरीशुदा, बेहतर वेतन और सुविधाओं वाली संगठित मजदूर आबादी तक ही सीमित हैं। भारी असंगठित मजदूर आबादी या तो यूनियन के दायरे के बाहर है या फिर कुछ धन्धेबाज़ छुटभैये यहाँ-वहाँ यूनियन ऑफ़िस खोलकर उनके बीच

दलाली का काम करते रहते हैं। इन युवा मजदूरों में एकदम निरक्षर कम ही मिलेंगे। ज्यादातर मिडिल या हाईस्कूल पास हैं और कुछ तो ग्रेजुएट भी हैं। एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि इन युवा मजदूरों में स्त्रियों की संख्या भी अच्छी-खासी है और लगातार बढ़ती जा रही है। ये युवा स्त्री मजदूर सबसे कठिन और उबाऊ किस्म के काम सबसे कठिन स्थितियों में करती हैं। काम के घंटों के हिसाब से मजदूरी उन्हें पुरुष मजदूरों से कम मिलती है और आर्थिक शोषण के साथ ही प्रायः उन्हें यौन-उत्पीड़न का भी शिकार होना पड़ता है। कारखानों में स्त्री मजदूरों के लिए अलग शौचालय तक की समस्या है। मजदूर बस्तियों में भी यह सुविधा बस नाममात्र को ही है। मजदूर स्त्रियों के बच्चों के लिए किसी भी कारखाने में बच्चाघर नहीं होता। दवा-इलाज के लिए असंगठित मजदूरों की यह पूरी आबादी नीम-हकीमों के आसरे होती है।

ये करोड़ों युवा सर्वहारा स्त्री-पुरुष भारत के नये सिरे से संगठित होने वाले क्रान्तिकारी आन्दोलन की सबसे अग्रणी और सबसे सम्भावनासम्पन्न शक्ति हैं। समृद्धि और विलासिता की मीनारों की अँधेरी तलहटी में आधुनिक युग के गुलामों का जीवन बिताने वाले ये लोग पूँजीवादी समाज की तमाम विभीषिकाओं को भोग रहे हैं और पूँजीवादी समाज के प्रति उनके भीतर न तो कोई उम्मीद बची है, न ही कोई मोह। साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी क्रान्ति की हरावल शक्तियों को नये सिरे से संगठित करने की प्रक्रिया शुरू करते हुए सबसे पहले इन पर ध्यान देना होगा, इनके बीच क्रान्तिकारी शिक्षा और प्रचार की कार्रवाईयें गहराई से, विविध रूपों में और लगातार चलानी होंगी तथा इन्हें संगठित करना होगा। इस युवा स्त्री-पुरुष मजदूर आबादी में जातिगत पूर्वाग्रह की समस्या भी अपेक्षाकृत सबसे कम है जो भारतीय समाज की एक गम्भीर पुरानी बीमारी और वर्ग-संघर्ष के विकास के रास्ते की एक गम्भीर बाधा है। सतत क्रान्तिकारी प्रचार और आन्दोलनों की प्रक्रिया इनकी वर्गीय चेतना को प्रखर बनायेगी और इनके बीच की जातिगत दूरियों को मिटाने का काम करेगी। लेनिन ने मजदूर युवाओं की क्रान्तिकारी गतिविधियों को समूचे सर्वहारा आन्दोलन का एक अविभाज्य अंग मानते हुए क्रान्तिकारी पार्टी में ऐसे युवा सर्वहारा तत्वों की भर्ती पर विशेष जोर दिया था और कहा था कि क्रान्तिकारी पार्टी “अग्रणी वर्ग के युवाओं की पार्टी” होगी (लेनिन : ‘द क्राइसिस ऑफ़ मॅशेविज़्म’, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 2, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, पृ. 355)। भारत के करोड़ों क्रान्तिकारी सम्भावनासम्पन्न नौजवान मजदूरों की लगातार बढ़ती आबादी के बारे में भी यही दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए। युवा सर्वहाराओं की यह आबादी ट्रेड यूनियन आन्दोलन को महज़ रियायतें माँगने और पैबन्दसाज़ी करने वाली अर्थवादी राजनीति की गन्दगी से बाहर लाकर उसे क्रान्तिकारी आधार पर फिर से खड़ा करने में ऐतिहासिक भूमिका निभायेगी। इसके लिए इनके बीच क्रान्तिकारी शिक्षा और प्रचार

की घनीभूत कार्रवाई चलानी होगी, इनके राजनीतिक अध्ययन-मण्डल बनाने होंगे, इनके बीच मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी राजनीतिक अख़बार को लेकर जाना होगा और इन्हें इस बात की शिक्षा देनी होगी कि मजदूर क्रान्ति के द्वारा पूँजीवाद का नाश आज भी मजदूर वर्ग का ऐतिहासिक मिशन है। विगत सर्वहारा क्रान्तियों की पराजय सर्वहारा वर्ग की अन्तिम और निर्णायक पराजय नहीं बल्कि महज फ़ौरी हार थी। सर्वहारा क्रान्तियों का अगला चक्र अवश्यम्भावी है और उसे विजयी होना ही है। इसके साथ ही, युवा मजदूरों और मजदूरों के युवा बेटों को नौजवान आन्दोलन के बैनर तले भी संगठित करना होगा। नौजवान संगठनों में संगठित युवा सर्वहारा पुस्तकालयों, रात्रि पाठशालाओं आदि के ज़रिये शिक्षित होंगे, खेलकूद क्लब, सांस्कृतिक टीम आदि बनाकर एकजुट होने, सामूहिकता-बोध और सांस्कृतिक-राजनीतिक चेतना से लैस होने तथा प्रचार कार्यों में प्रभावी बनने का काम करेंगे, ठेका प्रथा की समाप्ति, काम के घण्टे कम करने, और अपनी बस्ती की समस्याओं को लेकर लड़ते हुए वे आर्थिक माँगों के साथ-साथ आवास, रोज़गार, स्वास्थ्य और शिक्षा आदि अहम राजनीतिक माँगों पर लड़ना सीखेंगे और मजदूर आन्दोलन में नया प्राण-संचार करेंगे। तात्पर्य यह कि नौजवान आन्दोलन की बात करते हुए हमें न केवल नौजवान मजदूरों की अनदेखी नहीं करनी चाहिए बल्कि सबसे पहले उन्हीं पर ध्यान देना चाहिए और मजदूर बस्तियों में क्रान्तिकारी नौजवान संगठन की इकाइयाँ संगठित करने पर विशेष बल देना चाहिए।

गाँव के युवा मजदूरों पर भी इसी प्रकार का ध्यान देना चाहिए। उनकी भी तादाद आज कम नहीं है। हाँ, यह ज़रूर है कि शहरी युवा मजदूरों की तुलना में उनकी चेतना पिछड़ी हुई है और जात-पाँत की बाधा भी गाँवों में अधिक गम्भीर है। इसलिए गाँवों में नौजवानों को संगठित करते हुए उनकी राजनीतिक शिक्षा और उनके बीच सांस्कृतिक काम पर शहरों की अपेक्षा कई गुना अधिक ज़ोर देना होगा। छोटे और मँझोले किसान परिवारों की जो युवा पीढ़ी है, उसे छोटे पैमाने के मालिकाने के मोह से उबारना अधिक आसान है। उन्हीं आसानी से यह बतलाया जा सकता है कि पूँजी की मार से छोटे और निम्न-मध्यम किसानों को तबाह होने से बचाना सम्भव नहीं है और यह कि लागत मूल्य और लाभकारी मूल्य की लड़ाइयों का वास्तविक लाभ केवल धनी किसानों को ही मिलता है। छोटे और मँझोले किसानों के सामने एकमात्र व्यावहारिक मार्ग यही है कि वे सर्वहारा के साथ मिलकर समाजवाद के लिए संघर्ष करें जिसमें समान शिक्षा और रोज़गार का सबको अधिकार होगा, काम करने वाले सभी हाथों को काम और उनके काम का समान मोल मिलेगा तथा राष्ट्रीय सम्पत्ति के रूप में ज़मीन पर सबका समान अधिकार होगा। छोटे-मँझोले किसानों की युवा पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के मुक़ाबले जातिगत पूर्वाग्रहों से भी आसानी से मुक्त हो सकेगी और बड़े किसानों की धौंसपट्टी के आगे उसका डरना-झुकना भी मुश्किल होगा।

इसलिए, गाँवों में नौजवान संगठन बनाते समय युवा ग्रामीण मजदूरों के अतिरिक्त छोटे-मझोले किसानों की युवा पीढ़ी को संगठित करने पर ध्यान देना होगा। गाँव के नौजवान संगठनों को धनी किसानों की नौजवान पीढ़ी के प्रभाव से विशेष तौर पर बचाना होगा।

नौजवान लोग, अपनी उम्र के तकाज़े से, जोशीले और ऊर्जस्वी होते हैं। उनकी चेतना पर वर्गीय संकीर्णता की जकड़बन्दी अपेक्षाकृत कम होती है, इसलिए तीव्र वर्ग-संघर्षों की पूर्वबेला में, कभी-कभी धनी और शोषक वर्गों के कुछ युवा भी अपनी वर्ग-सीमाओं का अतिक्रमण करके व्यापक मेहनतकश जनता के हित में सक्रिय हो जाते हैं। एंगेल्स ने भी पूर्वानुमान किया था कि विशेष स्थितियों में, यहाँ तक कि बुर्जुआ वर्ग भी “आन्दोलन में अत्यन्त उपयोगी युवाओं” को पैदा करेगा (एंगेल्स : ‘द लेट बुचरी एट लीप्ज़िग – द जर्मन वर्किंगमेन्स मूवमेण्ट,’ कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 4, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, 1975, पृ. 647)। लेकिन इसका मतलब यह कदापि नहीं कि हम छात्र-युवा आन्दोलन को वर्गोपरि या वर्गोतर मान बैठें अथवा धनी घरों के छात्रों-युवाओं की बड़ी संख्या से क्रान्तिकारी भूमिका की उम्मीद पाल बैठें। बुर्जुआओं, नौकरशाहों और उच्च-मध्य वर्ग के जो नौजवान क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन में सक्रिय होंगे, वे सामाजिक-ध्रुवीकरण और आन्दोलन की तीव्रता बढ़ने के साथ ही या तो स्वयं किनारे लग जायेंगे या आन्दोलन को लक्ष्यविमुख करने की कोशिशों में लग जायेंगे। इनमें से बहुत छोटी, अपवादस्वरूप संख्या ही उन लोगों की होगी जो अपनी वर्गीय सीमाओं से पूरी तरह मुक्त होकर स्वयं को मेहनतकश जनता से जोड़ सकेंगे।

जहाँ तक बीच में खड़े मध्य वर्ग (यानी निम्न-पूँजीपति वर्ग) के छात्रों-नौजवानों का प्रश्न है, उनकी भूमिका क्रान्तिकारी आन्दोलनों में मिली-जुली होती है। एंगेल्स ने यह विश्वास प्रकट किया था कि मध्यवर्गीय सामाजिक संस्तरों से आने वाले छात्रों के बीच से बौद्धिक श्रम के सर्वहारा का उदय होगा जो आने वाली क्रान्ति में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिए शारीरिक श्रम से सम्बद्ध अपने मजदूर भाइयों के साथ एक ही कृतार में कन्धे से कन्धा मिलाकर खड़ा होगा। लेकिन साथ ही, वे निम्न-पूँजीपति वर्ग के युवाओं की दोनों ओर देखने की प्रवृत्ति, मजदूरों को अपने से हीन मानने और स्वयं को उनका उद्धारक मानने की प्रवृत्ति, मजदूरों की क्रान्तिकारी क्षमता में विश्वास न करने की प्रवृत्ति तथा अराजकतावाद, कैरियरवाद, व्यक्तिवाद और आनन-फ़ानन में क्रान्ति कर डालने की प्रवृत्ति से पैदा होने वाले दुस्साहसवादी भटकाव से भी भलीभाँति वाकिफ़ थे। निम्न पूँजीपति वर्ग के अग्रणी युवाओं को पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में जब अपना कोई भविष्य नज़र आता तो उनके भीतर अन्याय के विरुद्ध विद्रोह की भावना उमड़ने-धुमड़ने लगती है और वे क्रान्तिकारी आन्दोलनों में व्यापक मेहनतकश

जनता के साथ शिरक़त करने लगते हैं। लेकिन मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के अन्तर की बुनियाद पर कायम अपने बुर्जुआ विशेषाधिकारों और श्रेष्ठता की भावना को उस समय भी वे दिल से छोड़ने को तैयार नहीं होते। समाजवाद का हामी होते हुए भी वे मज़दूरों के प्रति तिरस्कार-भाव रखते हैं और अपनी बुर्जुआ पढ़ाई-लिखाई पर मिथ्याभिमान करते हैं। उनकी आँखों पर पड़ा वर्गीय सीमाओं (जिसका मुख्य कारण उत्पादक श्रम से उनका कटाव होता है) का पर्दा मेहनतकशों की क्रान्तिकारी सम्भावना से उन्हें परिचित नहीं होने देता। वे समझते हैं कि मज़दूर आन्दोलन उनके नेतृत्व के बिना सफल हो ही नहीं सकता और मज़दूरों की क्रान्तिकारी पार्टी में प्रायः वे नये 'विचारक' और 'नेता' होने के मंसूबे और दावे के साथ प्रवेश करते हैं। फ़्रेडरिक एंगेल्स ने पॉल लफ़ार्ग को लिखे गये एक पत्र में लिखा था कि ऐसे छात्र या शिक्षित मध्यवर्गीय युवा बुर्जुआ विश्वविद्यालय को एक प्रकार का समाजवादी सेण्ट साईर विद्यालय मानते हैं जो उन्हें पार्टी में, यदि सेनापति का नहीं तो कम से कम एक अफसर के रूप में पद पाने का अधिकार प्रदान करता है। माओ त्से-तुङ ने न केवल क्रान्ति के पहले, बल्कि क्रान्ति के बाद भी लम्बे समय तक सर्वहारा वर्ग की पार्टी में व्यक्तिवाद, कैरियरवाद, अराजकतावाद और 'नेता बनने के लिए पार्टी में भर्ती होने की प्रवृत्ति' जैसे भटकावों के विरुद्ध संघर्ष पर बल दिया था। ये बुर्जुआ प्रवृत्तियाँ लेकर आने वाले प्रायः निम्न-पूँजीवादी तत्त्व ही हुआ करते हैं जो बुर्जुआ व्यवस्था से लड़ना तो चाहते हैं लेकिन अपनी बुर्जुआ प्रवृत्तियों एवं विशेषाधिकारों को जाने-अनजाने यथावत बनाये रखना चाहते हैं। निम्न-पूँजीवादी युवाओं में चूँकि जनसमुदाय की क्रान्तिकारी शक्ति और भूमिका के प्रति विश्वास नहीं होता, इसलिए प्रायः उनके बीच के उतावले क्रान्तिकारी तत्त्व क्रान्ति के विज्ञान एवं अध्ययन एवं प्रयोग की तथा मेहनतकश जनता को जागृत एवं संगठित करने की दीर्घकालिक कार्रवाई की उपेक्षा करते हैं और अपनी कुर्बानी, वीरता एवं हथियारबन्द कार्रवाइयों के आतंक के सहारे सत्ता-परिवर्तन कर देना चाहते हैं। इसे ही हम आमतौर पर दुस्साहसवाद या आतंकवाद की प्रवृत्ति के नाम से जानते हैं। वैज्ञानिक समाजवाद पर आधारित मज़दूर आन्दोलन की धारा के प्रभावी होने के पहले यूरोप में और रूस में निम्न-पूँजीवादी क्रान्तिकारिता की यह प्रवृत्ति आम थी और क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन में भी कभी सुधारवाद-अर्थवाद-संसदवाद के रूप में बुर्जुआ भटकाव, तो कभी आतंकवाद-अराजकतावाद के रूप में निम्न बुर्जुआ भटकाव घुसपैठिये के रूप में लगातार सिर उठाते रहते हैं। इन भटकावों का सामाजिक आधार पूँजीवादी समाज की वर्गीय संरचना में मौजूद है।

तीव्र वर्ग-संघर्ष के काल में, परस्पर-विरोधी भूमिकाओं के रूप में छात्र समुदाय की सामाजिक विषमता विशेष रूप से देखने को मिलती है। 1848 की

क्रान्ति में जर्मनी में छात्रों के जनवादी तबके ने विद्रोही मेहनतकशों के साथ शामिल होकर सरकारी सेनाओं का मुकाबला किया, लेकिन उसी समय फ्रांस के विशेषाधिकारी अभिजातों के वंशज छात्रों ने मोर्चाबन्दी के दूसरी ओर के बुर्जुआ नेशनल गार्ड का साथ दिया और पेरिस के मजदूरों पर गोलियाँ चलायीं। कभी-कभी, अपनी अराजक सोच और मेहनतकश अवाम के प्रति क्षीण या प्रच्छन्न तिरस्कार-भाव के बावजूद, छात्र आन्दोलन व्यवस्था के विरुद्ध जनमानस को जागृत करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, लेकिन व्यापक मेहनतकश जनता के संघर्ष से जुड़े बिना, वे अपनी स्वतन्त्र गति से बहुत आगे तक नहीं जा पाते और विघटित हो जाते हैं। 1865-66 की शरद ऋतु में पेरिस एकेडमी के छात्र आन्दोलन के बारे में, मार्क्स को लिखे गये एक पत्र में एंगेल्स ने लिखा था : “यह बहुत महत्वपूर्ण है कि पेरिस के छात्र, चाहे उनके मस्तिष्क में जो कुछ भी अव्यवस्था रही हो, मजदूरों का पक्ष ले रहे हैं।” 1968 के फ्रांस के छात्र आन्दोलन की काफी चर्चा होती है। इस छात्र आन्दोलन ने लौहपुरुष दगाल की सरकार को इस्तीफे के लिए मजबूर कर दिया। तमाम बुद्धिजीवियों को इस आन्दोलन में नयी राह फूटती दीखने लगी। एक नवीन युग के सूत्रपात की घोषणाएँ की जाने लगीं। लेकिन अन्ततोगत्वा सबकुछ विसर्जित हो गया। लगभग एक दशक बाद ही, उस आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले लोग बुर्जुआ व्यवस्था में यहाँ-वहाँ उच्च पदों पर व्यवस्थित हो गये या बुर्जुआ बुद्धिजीवी बन गये। फ्रांसीसी सत्ता और समाज का ढाँचा यथावत बना रहा। यूँ कहने को 1968 के फ्रांसीसी छात्र आन्दोलन में समाजवाद और साम्राज्यवाद-विरोध के नारों को केन्द्रीय स्थान प्राप्त था। लेनिन और माओ के बिल्ले छात्रों में काफी लोकप्रिय थे। लेकिन समाजवाद के प्रति छात्रों का यह रुझान वैज्ञानिक न होकर रूमानी था। आन्दोलन में कोई योजना नहीं बल्कि एक स्वयंस्फूर्त अराजकता थी और मजदूर वर्ग को साथ लेने का कोई सचेतन प्रयास था ही नहीं। फ्रांस में छिटपुट निष्प्रभावी ग्रुपों के अतिरिक्त, सर्वहारा वर्ग की ऐसी कोई क्रान्तिकारी पार्टी भी नहीं थी जो उस छात्र आन्दोलन पर वैचारिक वर्चस्व स्थापित करने और उसे मजदूर वर्ग के संघर्षों के साथ जोड़ने की कोशिश करती। इन सबका नतीजा उसी रूप में सामने आना था, जिस रूप में आया। निस्सन्देह, इस छात्र आन्दोलन की वस्तुगत तौर पर प्रगतिशील भूमिका थी। इसने साम्राज्यवादी दुनिया के अन्तरविरोधों को उजागर करने के साथ ही उसे एक झटका दिया और पूरी दुनिया के मेहनतकशों और क्रान्तिकारी नौजवानों पर भी उसका एक सकारात्मक प्रभाव पड़ा। लेकिन दूरगामी तौर पर देखें तो यह बदलाव की किसी नयी लहर का सूत्रधार नहीं बन पाया। इसका मुख्य कारण छात्र आबादी के निम्न-पूँजीवादी चरित्र, उसकी अराजकतावादी विचारधारा और मेहनतकश जनसमुदाय से उसकी दूरी में देखा जा सकता है।

दूसरा प्रतिनिधि उदाहरण 1974 के भारतीय छात्र-युवा आन्दोलन का लिया जा सकता है। इसमें अग्रणी भूमिका गाँवों-शहरों के उन रैडिकल मध्यवर्गीय छात्रों की थी, जिनका आज़ाद भारत के नये सत्ताधारियों की नीतियों से मोहभंग हो चुका था। बढ़ती बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार, नेताशाही और नौकरशाही के विरुद्ध छात्रों का स्वतःस्फूर्त विस्फोटक आक्रोश गुजरात, बिहार और फिर देश के अधिकांश हिस्से में सड़कों पर सैलाब के रूप में बह निकला। इस व्यवस्था-विरोधी छात्र आन्दोलन की न तो कोई स्पष्ट विचारधारा थी, न सुलझा हुआ नेतृत्व था, न ही कोई स्पष्ट कार्यक्रम था। उस समय संशोधनवादी संसदमार्गी कम्युनिस्टों से विच्छेद करके जो क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट देश के विभिन्न हिस्सों में काम कर रहे थे और सत्ता के प्रचण्ड दमन के बावजूद जो काफ़ी प्रभावी थे, उन्होंने मुख्यतः आतंकवादी भटकाव के कारण (जो आतंकवादी भटकाव के शिकार नहीं थे, उनके पास भी कोई स्पष्ट वैकल्पिक मार्ग या जनदिशा की समझ नहीं थी) छात्रों-युवाओं के उभार में प्रभावी हस्तक्षेप करने की कोई कोशिश ही नहीं की। अपनी नैसर्गिक अराजकतावादी और स्वतःस्फूर्ततावादी वर्ग-प्रवृत्ति से छात्र आन्दोलन आगे बढ़ता रहा और मौक़ा देखकर जयप्रकाश नारायण ने “सम्पूर्ण क्रान्ति” और “दलविहीन प्रजा” के लोकलुभावन नारे के साथ उसका नेतृत्व हड़प लिया। आपातकाल के दौरान भी निरंकुशता-विरोधी संघर्ष की मुख्य ताक़त छात्र-युवा ही थे। लेकिन इस सारे संघर्ष की परिणति थी 1977 में जनता पार्टी शासन की स्थापना और फिर पतन तथा जनता पार्टी का विघटन। जनता पार्टी के घटक दल बुर्जुआ राजनीति की मुख्य धारा में शामिल हो गये और 1974 के छात्र आन्दोलन के अधिकांश नेता आज विभिन्न बुर्जुआ दलों के शीर्ष नेता हैं। जो बुर्जुआ राजनीति की मुख्य धारा में व्यवस्थित नहीं हो सके वे आज गाँधीवादी संस्थाओं और एन.जी.ओ. राजनीति के मठाधीशों के रूप में पूँजीवादी व्यवस्था के नये सेफ़्टी वॉल्व का काम कर रहे हैं और जो यह भी नहीं कर सके वे सर्वोदय बुक स्टॉलों पर किताब बेच रहे हैं, गाँधीवादी संस्थाओं के दफ़्तरों में किरानागीरी कर रहे हैं या हर प्रकार की राजनीतिक सक्रियता से विमुख अवसादग्रस्त मानसिकता में कोई रोज़ी-रोज़गार करके घर-बार सँभाल रहे हैं। इस सबका निचोड़ एकदम साफ़ है। छात्र आन्दोलन यदि मेहनतकशों के संघर्षों से और उनकी मुक्ति की व्यापक परियोजना से अपने को नहीं जोड़ता है तो अपने तमाम रैडिकल चरित्र के बावजूद, वह अन्ततः विघटित हो जाता है, उसके अग्रणी तत्त्वों का बड़ा हिस्सा बुर्जुआ राजनीति की मुख्य धारा में शामिल हो जाता है और बुर्जुआ व्यवस्था में रच-पच जाता है। बुनियादी और मुख्य चरित्र (कॉलेजों-विश्वविद्यालयों के छात्रों के वर्गीय कम्पोज़ीशन की दृष्टि से) मध्यवर्गीय होने के कारण “स्वतन्त्र” और “स्वायत्त” छात्र आन्दोलनों की नियति और परिणति इससे भिन्न कुछ हो भी नहीं सकती।

और बात सिर्फ इतनी ही नहीं है। कैम्पसों की छात्र आबादी अपनी स्वाभाविक निम्न-पूँजीवादी प्रवृत्ति के चलते, यदि वामपन्थी विचारों के प्रभाव में आती भी है तो संसदमार्गी वामपन्थी पार्टियों का सुधारवाद उन्हें अधिक रास आता है, क्योंकि उसमें कोई जोखिम नहीं होता, अपनी बर्जुआ योग्यता के बूते तरक्की की सीढ़ी चढ़ने का स्कोप वहाँ अधिक होता है और व्यापक मेहनतकश आबादी के कठिन जीवन और संघर्षों में भागीदारी की कोई परेशानी नहीं उठानी पड़ती। जो ज़्यादा रैडिकल रुझान वाले थोड़े-से छात्र होते हैं, वे निम्न-बर्जुआ क्रान्तिवाद के शिकार होते हैं। व्यापक मेहनतकश जनता पर उन्हें भरोसा नहीं होता और आनन-फ़ानन में क्रान्ति कर डालने की प्रवृत्ति उन्हें आतंकवाद के रास्ते की ओर ले जाती है। छात्र जीवन में वामपन्थी फ़िकरों-मुहावरों की जुगाली करने वाले बहुतेरे छात्र या तो किसी संसदमार्गी वामपन्थी पार्टी के नेता या एन.जी.ओ. सुधारवाद के सरगना बन जाते हैं, या नववामपन्थी अकादमीशियन बन जाते हैं, या फिर मीडियाकर्मि और नौकरशाह बन जाते हैं। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय जैसे सुविधासम्पन्न टापू की वामपन्थी छात्र राजनीति यदि सभी संशोधनवादी पार्टियों के लिए प्रभावी भर्ती-केन्द्र का काम करती है और कभी-कभार वहाँ से निकले कुछ छात्र यदि दुस्साहसवादी वाम राजनीति का रास्ता पकड़ते हैं तो इसमें ज़रा भी आश्चर्य की बात नहीं है।

एक सच्ची क्रान्तिकारी छात्र राजनीति का मतलब केवल फ़ीस-बढ़ोतरी के विरुद्ध लड़ना, कक्षाओं में सीटें घटाने के विरुद्ध लड़ना, मेस में ख़राब खाने को लेकर लड़ना, छात्रावासों की संख्या बढ़ाने के लिए लड़ना, कैम्पस में जनवादी अधिकारों के लिए लड़ना या यहाँ तक कि रोज़गार के लिए लड़ना मात्र नहीं हो सकता। क्रान्तिकारी छात्र राजनीति वही हो सकती है जो कैम्पसों की बाढ़ेबन्दी को तोड़कर छात्रों को व्यापक मेहनतकश जनता के जीवन और संघर्षों से जुड़ने के लिए तैयार करे और उन्हें इसका ठोस कार्यक्रम दे। ऐसा किये बिना मध्यवर्गीय छात्र अपनी वर्गीय दृष्टि-सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकते। क्रान्तिकारी परिवर्तन की भावना वाले छात्रों को राजनीतिक शिक्षा और प्रचार के द्वारा यह बताना होगा कि मज़दूर वर्ग और व्यापक मेहनतकश जनता के संघर्षों में प्रत्यक्ष भागीदारी किये बिना और उसके संघर्षों के साथ अपने संघर्षों को जोड़े बिना वे उस पूँजीवादी व्यवस्था को क़तई नष्ट नहीं कर सकते जो सभी समस्याओं की जड़ है। व्यापक मेहनतकश जनता के जीवन और संघर्षों में भागीदारी करके ही मध्यवर्गीय छात्र अराजकतावाद, व्यक्तिवाद और मज़दूर वर्ग के प्रति तिरस्कार-भाव की प्रवृत्ति से मुक्त हो सकते हैं और सच्चे अर्थों में क्रान्तिकारी बन सकते हैं।

माओ त्से-तुङ ने लिखा है, “बुद्धिजीवी लोग जब तक तन-मन से क्रान्तिकारी जनसंघर्षों में नहीं कूद पड़ते, अथवा आम जनता के हितों की सेवा

करने और उसके साथ एकरूप हो जाने का पक्का इरादा नहीं कर लेते, तब तक उनमें अक्सर मनोगतवाद और व्यक्तिवाद की प्रवृत्तियाँ बनी रहती हैं, उनके विचार अव्यावहारिक होते हैं और उनकी कार्रवाइयों में दृढ़ निश्चय की कमी बनी रहती है। इसलिए हालाँकि चीन में क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों का जनसमुदाय एक हरावल दस्ते की भूमिका अथवा एक सेतु की भूमिका अदा कर सकता है, फिर भी यह नहीं हो सकता कि उनमें से सभी लोग अन्त तक क्रान्तिकारी बने रहेंगे। कुछ लोग बड़ी नाजुक घड़ी में क्रान्तिकारी पाँतों को छोड़ जायेंगे और निष्क्रिय हो जायेंगे, यहाँ तक कि उनमें से कुछ लोग क्रान्ति के दुश्मन भी बन जायेंगे। बुद्धिजीवी लोग केवल दीर्घकालीन जनसंघर्ष के दौरान ही अपनी कमियों को दूर कर सकते हैं।” (माओ त्से-तुङ : ‘चीनी क्रान्ति और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी,’ (दिसम्बर 1939), संकलित रचनाएँ, अंग्रेज़ी संस्करण, ग्रन्थ 2, पृ. 322)

माओ त्से-तुङ की यह उक्ति भारत के बुद्धिजीवियों के लिए भी होती है और छात्रों के लिए भी लागू होती है क्योंकि छात्र मध्यवर्गीय युवा बुद्धिजीवी ही होते हैं। क्रान्तिकारी छात्र आन्दोलन के कार्यक्रम में यह बात अनिवार्य रूप से शामिल होनी चाहिए कि छात्र कार्यकर्ताओं को कैम्पस के आन्दोलनों के अतिरिक्त, अपनी पढ़ाई-लिखाई से समय निकालकर मजदूरों के बीच जाना चाहिए, उनकी जीवन-स्थितियों का अध्ययन करना चाहिए, छुट्टियों में उनके साथ रहना चाहिए, अध्ययन-मण्डलों, पुस्तकालयों, सांस्कृतिक-राजनीतिक प्रचार-कार्यों के द्वारा उन्हें शिक्षित करना चाहिए, उनके आन्दोलनों में शिरकत करनी चाहिए, इस प्रक्रिया में स्वयं शिक्षित होना चाहिए और अपना वर्ग-रूपान्तरण करना चाहिए। भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने 19 अक्टूबर 1929 को पंजाब छात्र संघ, लाहौर के दूसरे अधिवेशन के नाम जेल से भेजे गये अपने सन्देश में लिखा था कि क्रान्ति का सन्देश फैक्टरियों-कारखानों, गन्दी बस्तियों और गाँवों की झोंपड़ियों में रहने वाले करोड़ों मेहनतकशों तक पहुँचाना छात्रों-नौजवानों की ज़िम्मेदारी है। यह बात आज भी सही है और क्रान्तिकारी छात्र आन्दोलन इसकी अनदेखी नहीं कर सकता।

माओ त्से-तुङ ने किसी नौजवान के क्रान्तिकारी होने-न-होने की एकमात्र कसौटी यह बतायी थी कि वह नौजवान व्यापक मेहनतकश जनता के साथ एकरूप हो जाना चाहता है अथवा नहीं, और अपने अमल में वह ऐसा करता है अथवा नहीं (माओ त्से-तुङ : ‘नौजवान आन्दोलन की दिशा,’ (4 मई 1939), संकलित रचनाएँ, ग्रन्थ 2, अंग्रेज़ी संस्करण, पृ. 246)।

भारत के छात्र-युवा आन्दोलन के लिए भी यह कसौटी शत-प्रतिशत सही है और आज हमें पूरी मजबूती के साथ इस पर अमल करने की ज़रूरत है। तभी हम इस मोर्चे पर वास्तव में एक नयी शुरुआत कर पायेंगे और उसे आगे बढ़ा पायेंगे। ●

मेहनतकश जनसमुदाय से एकता बनाने के लिए क्रान्तिकारी छात्रों-युवाओं को कुछ ठोस कदम उठाने होंगे!

यूँ तो बौद्धिक श्रम और शारीरिक श्रम करने वालों के बीच विभेद (डिफरेंसिएशन) और पार्थक्य (सेग्रीगेशन) की दीवारें सभ्यता के इतिहास के उस प्रारम्भिक युग में ही खड़ी हो चुकी थीं, जब समाज ने वर्ग-विभाजन और वर्ग-संघर्ष की मंजिल में प्रवेश किया था। लेकिन पूँजीवादी समाज के श्रम-विभाजन ने इस विभेद और पार्थक्य को विगत लगभग दो शताब्दियों के दौरान चरम सीमा तक विकसित कर दिया है।

पूँजीवादी श्रम-विभाजन ने मनुष्य के सामाजिक समष्टिगत व्यक्तित्व को खण्ड-खण्ड विघटित करते हुए उस मुकाम पर ला खड़ा किया है जहाँ समाज की समस्त भौतिक सम्पदा का उत्पादन करने वाला प्रत्यक्ष उत्पादक जनसमुदाय अपनी उत्पादक विशिष्टता से सर्वथा अपरिचित, मानो मशीन का एक पुर्जा बन चुका है। वह मात्र पगारजीवी आधुनिक गुलाम है जो न केवल अपने उत्पादन से, बल्कि अपनी उत्पादक विशिष्टता सहित सभी मानवीय गुणों एवं कलाओं से, अपने समानधर्मा उत्पादकों से और पूरे सामाजिक एवं प्राकृतिक परिवेश से विच्छिन्न और बेगाना होकर बस अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए हड्डियाँ गलाता रहता है। यही वह अलगाव (एलियनेशन) की परिघटना है, जो पूँजीवादी समाज की विशिष्टता है। सम्पत्तिशाली वर्ग और सर्वहारा वर्ग मानवीय आत्म-पृथक्करण (सेल्फ़-एस्ट्रेंजमेण्ट) की एक ही प्रक्रिया के दो पहलू हैं। पहला इस प्रक्रिया को अपनी शक्ति मानता है और इसमें मानवीय अस्तित्व का सादृश्य प्राप्त करता है, जबकि दूसरा इसमें अपनी शक्तिहीनता और अमानवीय अस्तित्व की वास्तविकता अनुभव करता है। निजी सम्पत्ति अपनी इच्छा से स्वतन्त्र, अचेतन, आन्तरिक गति से, एक ऐसी शक्ति के रूप में सर्वहारा वर्ग को पैदा करती है जो अपनी प्रकृति से ही निजी सम्पत्ति-विरोधी होती है, वह एक ऐसी दरिद्रता को जन्म देती है जो अपनी आत्मिक-भौतिक दरिद्रता के बारे में चैतन्य होती है, वह एक ऐसे अमानवीकरण को जन्म देती है जिसे अपने अमानवीकरण का बोध होता

है। निजी सम्पत्ति सर्वहारा वर्ग को जन्म देकर अपने विरुद्ध एक दण्डाज्ञा जारी करती है और इस हुक्म को तामील करके अपना ऐतिहासिक मिशन पूरा करने के साथ ही सर्वहारा वर्ग स्वयं अपना भी उन्मूलन कर लेगा। यानी अपने विपरीत पक्ष – निजी सम्पत्ति का लोप हो जाने के साथ सर्वहारा वर्ग का भी लोप हो जायेगा और वहाँ से मानव सभ्यता के उत्तरवर्गीय इतिहास का समारम्भ होगा।



पूँजीवादी समाज की वर्गीय संरचना में मध्य वर्ग या निम्न-पूँजीपति वर्ग (पेटी-बुर्जुआ क्लास) एक ऐसा वर्ग होता है जो बौद्धिक श्रम करता है और सीधे भौतिक उत्पादन में नहीं लगा होता है। यह अतिरिक्त मूल्य नहीं पैदा करता। पूँजीवादी समाज की सर्वव्याप्त बीमारी – मानवीय आत्म-पृथक्करण और अलगाव से यह भी विविध रूपों में ग्रस्त होता है, लेकिन बौद्धिक श्रम को शारीरिक श्रम से श्रेष्ठ समझने के कारण, अपनी स्वाभाविक वर्गीय चेतना से यह सर्वहारा वर्ग को हेय दृष्टि से देखता है। निजी सम्पत्ति में इसकी गहरी आस्था होती है। पूँजीवादी उत्पादन और विनिमय की प्रक्रिया को संचालित करने में इस वर्ग की अनिवार्यतः महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। सर्वहारा वर्ग से अधिशेष निचोड़ने में यह पूँजीपति वर्ग के अधीनस्थ सहयोगी की भूमिका (ब्यूरोक्रेट, टेक्नोक्रेट से लेकर क्लर्क, सुपरवाइजर आदि के रूप में) निभाता है और पूँजीवादी राज्य-व्यवस्था और पूरे सामाजिक-सांस्कृतिक अधिरचनात्मक तन्त्र के सभी अंगों-उपांगों का नीति-निर्धारण और संचालन भी (सिद्धान्तकार, विचारक, राजनीतिज्ञ, नौकरशाह, न्यायाधीश, सेना-पुलिस के अधिकारी और स्वतन्त्र पेशेवर बुद्धिजीवी के रूप में) यही वर्ग करता है। बदले में मेहनतकशों से कुल निचोड़े गये अधिशेष का एक हिस्सा यह वर्ग वेतन-भत्ता और सुख-सुविधाओं के रूप में हासिल करता है। साथ ही, बुद्धिजीवी के रूप में इसे बहुतेरे बुर्जुआ अधिकार विशेषाधिकार के रूप में हासिल होते हैं।

इस मध्य वर्ग की निरन्तर चाहत और कोशिश यही होती है कि यह ऊपर उठकर सीधे अधिशेष निचोड़ने वाले पूँजीपति वर्ग की पाँत में जा बैठे। लेकिन पूँजीपतियों के बीच तो पहले से ही, बड़ी मछली छोटी मछली को खाती रहती है और आम प्रवृत्ति इज़ारेदारी की होती है। स्वतन्त्र प्रतियोगिता के दौर में नये-नये पूँजीपतियों का पैदा होना फिर भी आसान था। लेकिन एकाधिकारी पूँजीवाद के वर्तमान दौर में ऐसा हो पाने की गुंजाइशें काफ़ी कम हो गयी हैं। ऐसी स्थिति में, मध्य वर्ग का जो ऊपरी हिस्सा है, वह शेर खरीदकर, रियल एस्टेट आदि में पूँजी लगाकर लाभ कमाने में पूँजीपतियों का छुटभैया बन जाता है। नीचे का हिस्सा भी

बचत करके सम्पत्तिशाली बनने का सपना देखता है, लेकिन बैंकों में पैसा जमा कर वह ज़्यादा से ज़्यादा, पूँजीपतियों को मुनाफ़ा कमाने के लिए ऋण के रूप में पूँजी का अम्बार ही उपलब्ध करा पाता है, और खुद उसे इसी मुनाफ़े का एक अत्यन्त छोटा टुकड़ा ब्याज के रूप में हासिल हो पाता है, जिससे वह कुछ सुरक्षा और सुविधाएँ जुटा लेने से अधिक कुछ नहीं कर पाता।

मध्य वर्ग एक ऐसा वर्ग है जिसके विभेदीकरण की प्रक्रिया निरन्तर जारी रहती है। ऊँची तनख़्वाहें पाने वाले प्रबन्धक, इंजीनियर, प्रोफ़ेसर, डॉक्टर, वरिष्ठ मीडियाकर्मी आदि स्वतन्त्र प्रोफ़ेशनल्स न केवल सुरक्षित-सुविधासम्पन्न और विलासिता का जीवन जीते हैं, बल्कि अपनी बचत से निवेश करके मुनाफ़ा निचोड़ने वालों की क़तार में निचले पायदानों पर जा बैठते हैं और पूँजीवादी व्यवस्था के एक मज़बूत, विश्वसनीय सामाजिक अवलम्ब की भूमिका निभाते हैं। इसे उच्च-मध्य वर्ग कहा जाता है। इसी वर्ग के बीच से बुद्धिजीवियों का वह हिस्सा आता है जो सिद्धान्तकार, चिन्तक, अकादमीशियन, मीडियाकर्मी, संस्कृतिकर्मी व राजनीतिज्ञ के रूप में पूँजीवादी व्यवस्था की सेवा करता है और प्रतिक्रियावादी, यथास्थितिवादी, जनविरोधी बुद्धिजीवी की भूमिका निभाता है। क्लर्कों, प्राथमिक-माध्यमिक स्कूलों के शिक्षकों, तकनीकी व सुपरवाइज़री स्टाफ़ के लोगों, कम वेतन वाले निचले स्तर के मीडियाकर्मियों, सेल्स एजेण्टों और कम आय वाले स्वतन्त्र प्रोफ़ेशनल्स से मध्य वर्ग के मध्यवर्ती और निचले संस्तर, यानी मध्यम-मध्य वर्ग और निम्न-मध्य वर्ग संघटित होते हैं। इस पूरे वर्ग के विभेदीकरण की प्रक्रिया निरन्तर गतिमान रहती है। उच्च-मध्य वर्ग का एक हिस्सा ऊपर उठता रहता है और उनमें से कुछ पूँजीपति घरानों के बड़े शेयर-होल्डर, व्यवसायी, दलाल या किसी प्रकार के बड़े कारोबारी बनते रहते हैं। मध्यम-मध्य वर्ग का एक हिस्सा ऊपर की ओर तो एक नीचे की ओर गतिमान रहता है। निम्न-मध्य वर्ग लगातार टूटे सपनों, अपूर्ण आकांक्षाओं, मलाल, अफ़सोस और निराशा में जीता रहता है। उसका एक छोटा-सा हिस्सा ही सुरक्षित जीवन हासिल करके ऊपर उठ पाता है। शेष अपनी स्थिति को बचाने के लिए जूझता रहता है और उसका बड़ा हिस्सा लगातार कंगाल-बदहाल होकर सर्वहारा की क़तरारों में शामिल होता रहता है। मध्य वर्ग के मँझोले और निचले संस्तरों के बीच लगातार यह आशंका विश्वास में बदलती जाती है कि पूँजीवादी व्यवस्था में बेहतर ज़िन्दगी की उनके लिए कोई गुंजाइश नहीं बची है। इन्हीं के बीच से व्यवस्था-परिवर्तन के भाँति-भाँति के कल्पनावादी, सुधारवादी और उग्रपरिवर्तनवादी (रैंडिकल) विचार एवं परियोजनाएँ पैदा होती रहती हैं। जो मध्यवर्गीय कल्पनावादी और सुधारवादी विचार-सरणियाँ होती हैं वे पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में सुधार की तजवीज़ पेश करने के चलते वस्तुगत तौर पर पूँजीवाद की ही सेवा करती हैं और

शासक वर्ग उन्हें न केवल सहर्ष स्वीकार और प्रोत्साहित करता है, बल्कि कालान्तर में ऐसे विचारों के प्रस्तोता और वाहक भी इस व्यवस्था की सुरक्षा-पंक्ति के रूप में अपना लिये जाते हैं। रैडिकल विचारों और परियोजनाओं की वाहक शक्तियाँ समय-समय पर दिशाहीन उग्र आन्दोलनों को जन्म देती रहती हैं जिनकी परिणति निराशा और विफलता के रूप में सामने आती रहती है। कुछ ऐसे रैडिकल मध्यवर्गीय तत्त्व होते हैं जो क्रान्ति के लिए समाज की वैज्ञानिक समझ और व्यापक जनसमुदाय की भूमिका की महत्ता नहीं समझते। वे जनता को निष्क्रिय भीड़ मानते हैं और उसकी मुक्ति के लिए स्वयं अपनी वीरता और कुर्बानी के बूते, हथियार उठाकर, आतंक और षड्यन्त्र के सहारे आनन-फ़ानन में क्रान्ति कर देना चाहते हैं। आतंकवाद का यह रास्ता सामाजिक क्रान्ति की एक प्रातिनिधिक मध्यवर्गीय समझ है। साथ ही, निम्न-मध्य वर्ग के चरम अलगावग्रस्त, नितान्त पिछड़ी चेतना वाले भविष्य के प्रति निराश, निरुपाय क्रोध की मानसिकता में जीने वाले पीले-बीमार चेहरों वाले युवा ही भाँति-भाँति के फ़ासिस्टों के गुण्डा-गिरोहों में शामिल होते रहते हैं। लेकिन निरन्तर सर्वहारा बनने की दिशा में अग्रसर इसी निम्न वर्ग के रैडिकल हिस्सों के बीच से कुछ ऐसे लोग निकलकर सामने आते हैं जो अपने जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया में पूँजीवाद की तमाम विभीषिकाओं के शिकार मेहनतकश जनसमुदाय के निकट आते हैं और उससे आत्मिक धरातल पर भी निकटता महसूस करने लगते हैं। वे मध्य वर्ग के सबसे उन्नत चेतना वाले रैडिकल तत्त्व होते हैं। वे सामाजिक परिवर्तन की दिशा और रास्ते के बारे में व्यावहारिक और तर्कसंगत ढंग से सोचते हैं, इन्हें जानने के लिए समाज की आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक संरचना का, उसकी आन्तरिक गतिकी का और समाज-विकास की पूरी ऐतिहासिक प्रक्रिया का अध्ययन करते हैं और इस प्रकार, पूँजीवाद-विरोधी क्रान्ति के विज्ञान से परिचित होते हैं। उनके सामने यह सच्चाई स्पष्ट हो जाती है कि पूँजीवादी समाज में उत्पादन की प्रकृति तो सामाजिक हो जाती है लेकिन उत्पादन के साधन और सामाजिक श्रम के उत्पादों पर समाज का स्वामित्व नहीं होता है। उन पर पूँजीपति वर्ग का निजी स्वामित्व होता है। सामाजिक उत्पादन और पूँजीवादी निजी स्वामित्व के बीच के इस अन्तरविरोध को हल करके तथा उत्पादन के साधनों व सामाजिक श्रम के उत्पादों के स्वामित्व का समाजीकरण करके ही समाज आगे बढ़ सकता है। पूँजीपति वर्ग पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली को सर्वोपरि तौर पर, अपनी राज्यसत्ता के बल के सहारे कायम रखता है। कोई सामाजिक क्रान्ति उस राज्यसत्ता का ध्वंस करके ही नयी समाज-व्यवस्था के निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर सकती है। यह काम केवल सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में ही अंजाम दिया जा सकता है क्योंकि वही एक ऐसा वर्ग है जो किसी प्रकार के निजी स्वामित्व से वंचित, केवल अपनी श्रम-शक्ति

का मालिक होता है, वही सर्वाधिक शोषित-उत्पीड़ित और उन्नत उत्पादक शक्तियों का प्रतिनिधि होने के नाते सबसे उत्कट क्रान्तिकारी चरित्रवाला वर्ग होता है।

क्रान्ति के इस विज्ञान को समझते हुए निम्न-मध्य वर्ग के सर्वाधिक उन्नत, रैडिकल बौद्धिक तत्त्व मेहनतकश जनसमुदाय की इतिहास-निर्मात्री भूमिका से और सर्वहारा वर्ग की नेतृत्वकारी क्रान्तिकारी भूमिका से परिचित होते हैं और उनके साथ एकता बनाने के सचेतन प्रयासों में जुट जाते हैं। यँ तो किसी भी पूँजीवादी समाज में पूँजी-संचय की प्रक्रिया आगे बढ़ने के साथ-साथ जैसे-जैसे धनी-गरीब के बीच की खाई बढ़ती जाती है और सामाजिक ध्रुवीकरण तीव्र, गहरा और उग्र होता जाता है, जैसे-जैसे लगातार सर्वहारा की पाँतों में धकेले जाते मध्य वर्ग के निचले और मँझोले संस्तरों के सामने यह बात स्पष्ट होती जाती है कि उनके सामने पूँजीवाद के नाश और समाजवाद के विकल्प को स्वीकारने के अतिरिक्त कोई और रास्ता नहीं है और शारीरिक श्रम करने वालों से अन्तरविरोध के बावजूद पूँजीवाद-विरोधी सामाजिक क्रान्ति में वे उनके मित्र बन जाते हैं। लेकिन मध्य वर्ग के इन्हीं संस्तरों के जो सर्वाधिक उन्नत तत्त्व होते हैं, वे सर्वहारा के मित्र मात्र बनने की जगह मेहनतकशों के जीवन और ऐतिहासिक मिशन को पूरी तरह अपनाकर, अपना वर्ग-रूपान्तरण करके सर्वहारा वर्ग का ही एक हिस्सा बन जाते हैं और सर्वहारा क्रान्ति की हरावल पाँतों में शामिल हो जाते हैं। निश्चय ही, अपना सर्वहाराकरण करने वाले ऐसे मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की संख्या (पूरे वर्ग के अनुपात में) बहुत छोटी होती है, लेकिन समाजवाद के लिए संघर्ष में, विशेषकर उसकी प्रारम्भिक अवस्थाओं में उनकी भूमिका ऐतिहासिक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। उजरती गुलामी की विमानवीकारी (डीह्यूमनाइज़िंग) परिस्थितियों में अपने अस्तित्व के लिए जूझता हुआ सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी अमानवीयता के विरुद्ध संगठित होकर लड़ने की वर्ग-चेतना तो हासिल कर लेता है, लेकिन वह अपनेआप यह नहीं समझ पाता कि पूँजी की सत्ता को ध्वस्त करके पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली को समाप्त करने का और शोषण-उत्पीड़न से मुक्त सामाजिक व्यवस्था के निर्माण की दिशा में आगे बढ़ने का रास्ता क्या होगा? जीवन उसे वर्ग-संघर्षों के इतिहास एवं नियमों से, पूँजीवाद की आर्थिक गतिकी से और समाजवाद की वैज्ञानिक समझदारी से परिचित होने का अवसर नहीं देता। ऐसे में, उसके संघर्ष या तो मात्र आर्थिक माँगों के संघर्षों के दायरे में और पेशागत संकुचित वृत्ति के दायरे में सिमटे रह जाते हैं या फिर दिशाहीन विद्रोहों के रूप में सामने आते रहते हैं और पूँजीपति वर्ग की राज्यसत्ता को चकनाचूर करके अपनी राज्यसत्ता स्थापित करने वाले राजनीतिक संघर्ष की दिशा में आगे नहीं बढ़ पाते। इस काम को अंजाम देने के लिए सर्वहारा वर्ग के ही थोड़े-से अगुवा तत्त्व आगे

आते हैं, वे स्वयं को एक हरावल दस्ते के रूप में, एक नेतृत्वकारी कोर के रूप में – एक क्रान्तिकारी पार्टी के रूप में संगठित करते हैं और मजदूर वर्ग को उसके ऐतिहासिक मिशन से परिचित कराते हुए, उसे समाजवाद के विचारों से अवगत कराते हुए, आर्थिक संघर्षों के साथ-साथ राजनीतिक संघर्षों की दिशा में आगे बढ़ाते हैं। फिर व्यापक मजदूर आबादी ट्रेडयूनियनों से आगे बढ़कर एक क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व में अपनी राजनीतिक माँगों के लिए लड़ती हुई पूरे मालिक वर्ग और उनकी राज्यसत्ता के विरुद्ध अपनी सारी शक्ति लगाती है। लेकिन पूँजीवादी समाज में ज्ञान की दुनिया और शारीरिक श्रम की दुनिया के बीच विभाजन के कारण, क्रान्तिकारी संघर्ष के शुरुआती चरणों में, सर्वहारा वर्ग के बीच से आने वाले ऐसे बौद्धिक अगुवा तत्त्वों की – सर्वहारा वर्ग के ऐसे नैसर्गिक 'ऑर्गेनिक इण्टेलेक्चुअल्स' की संख्या अत्यन्त छोटी या नगण्य होती है जिनका काम मजदूर आन्दोलन तक समाजवाद के विचारों को पहुँचाना होता है। आगे चलकर आर्थिक संघर्षों की प्रारम्भिक पाठशाला और राजनीतिक संघर्षों की उच्चतर कक्षाओं में शिक्षित-प्रशिक्षित होने के बाद तथा सतत राजनीतिक प्रचार एवं शिक्षा की कार्यवाहियों के बाद, खाँटी मजदूरों के बीच से भी ऐसे उन्नत बौद्धिक क्रान्तिकारी तत्त्व ज़्यादा से ज़्यादा तादाद में पैदा होकर क्रान्तिकारी सर्वहारा पार्टी में शामिल होने लगते हैं और उनमें से कई नेतृत्वकारी भूमिका भी निभाने लगते हैं। लेकिन शुरुआती दौर में ऐसा नहीं हो पाता।

मजदूरों के क्रान्तिकारी संघर्ष के ऐसे शुरुआती दौरों में ऐसे क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों की विशेष ऐतिहासिक भूमिका होती है जो आते तो मध्य वर्ग से (प्रायः निम्न-मध्य वर्ग से) हैं, लेकिन अपने वर्ग-मूल से निर्णायक विच्छेद करके स्वयं को सर्वहारा वर्ग के जीवन से, उसके संघर्षों से और उसके ऐतिहासिक लक्ष्य से जोड़ लेते हैं। वे अपना सर्वहाराकरण कर लेते हैं और सर्वहारा वर्ग के हरावल की भूमिका निभाने लगते हैं क्योंकि बुर्जुआ समाज में ज्ञान की दुनिया से परिचित होने के कारण समाज-विकास की दिशा एवं गतिकी को समझ लेना उनके लिए अधिक सुगम होता है। इसीलिए मजदूर वर्ग के नेतृत्व में संगठित होने वाले पूँजीवाद-विरोधी क्रान्तिकारी संघर्ष के प्रारम्भिक दौरों में मध्यवर्गीय वर्ग-मूल वाले ऐसे क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। स्वयं मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, माओ, हो ची मिन्ह, किम इल सुंग आदि भी ऐसे ही लोग थे। मार्क्स-एंगेल्स के समय में यूरोपीय मजदूर आन्दोलन में डियेट्ज़गेन और जोहान्न फ़िलिप्प बेकर, लेनिन के समय में रूसी मजदूर आन्दोलन में इवान बाबुशिकन जैसे कई ऐसे लोग भी थे जो खाँटी मजदूर वर्ग से आने वाले क्रान्तिकारी बौद्धिक तत्त्व थे, लेकिन शुरुआती दौरों में ऐसे तत्त्वों की संख्या बहुत कम थी। हर जगह, क्रान्तिकारी मजदूर आन्दोलन ने समाजवाद के विचारों से लैस

होकर जैसे-जैसे आगे क़दम बढ़ाया, उसमें नीचे से लेकर नेतृत्व के स्तरों तक उन्नत बौद्धिक स्तर वाले मज़दूरों की संख्या बढ़ती चली गयी और मज़दूर वर्ग की पार्टियों का कम्पोज़ीशन बदलता चला गया। लेकिन इतना निर्विवाद है कि शुरुआती दौर में सभी जगहों पर, मध्य वर्ग से आने वाले और अपना वर्ग-रूपान्तरण करके, अपने वर्ग-हितों को छोड़कर सर्वहारा वर्ग-हितों के लिए लड़ने वाले और सर्वहारा समाजवादी धारा में शामिल हो जाने वाले क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों की भूमिका अनिवार्य रूप से महत्वपूर्ण रही है और पूँजीवादी समाज के श्रम-विभाजन की स्थिति के विश्लेषण से यह सर्वथा स्वाभाविक और तर्कसंगत प्रतीत होता है।

भारतीय सन्दर्भों में यह प्रश्न और अधिक महत्वपूर्ण है। भारतीय समाज के ताने-बाने में जनवाद के तत्त्व, यूरोपीय समाज की तुलना में (यहाँ तक कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के रूस की तुलना में भी) अत्यन्त न्यून हैं। अधिरचनात्मक तन्त्र में बुर्जुआ जनवाद का स्पेस यहाँ अत्यधिक संकुचित है (इसके सुनिश्चित ऐतिहासिक कारण हैं, जिनकी चर्चा न यहाँ सम्भव है, न ही हमारा उद्देश्य)। इसके चलते यहाँ पढ़े-लिखे मध्य वर्ग और मज़दूर वर्ग के बीच सामाजिक पार्थक्य की खाई बहुत गहरी है। थोड़ी-बहुत औपचारिक स्कूली शिक्षा पा लेने के बावजूद, ज्ञान-विज्ञान और कला-संस्कृति की दुनिया से आम मज़दूर वर्ग का बहुत अधिक कटाव है। जिस समाज में आम मज़दूर और प्रोफ़ेसर-पत्रकार-लेखक-छात्र एक चायखाने में चाय तक नहीं पीते, वहाँ लिखने-पढ़ने का शौक रखने वाला गोर्की जैसा कोई मज़दूर अभिजात वर्ग के लेखक कोरोलेंको जैसे किसी व्यक्ति के ड्राइंगरूम में घुस तक नहीं सकता। वहाँ पार्सन्स, स्पाइस, फ़िशर, एंजेल (मई-दिवस संघर्ष के नायक मज़दूर नेता), अर्नेस्ट जोन्स जैसे लेखक-कवि मज़दूर नेता (चार्टिस्ट आन्दोलन के नेता) तथा जोहान्न फ़िलिप् बेकर और इवान बाबुशिकन जैसे मज़दूर संगठनकर्ता आसानी से, राजनीतिक शिक्षा, प्रचार और संघर्षों की एक लम्बी सचेतन प्रक्रिया के बिना पैदा नहीं हो सकते। एक दूसरी समस्या भी है। भारत में औद्योगिक सर्वहारा की आबादी में विगत कुछ दशकों में भारी विस्तार हुआ है, लेकिन अभी भी उनकी भारी संख्या ऐसी है, जिनका परिवार गाँव में रहता है और ज़मीन के किसी एक छोटे-से टुकड़े से और “पुरखों की माटी” से रागात्मक मोह के साथ चिपका हुआ है। यह स्थिति ऐसे मज़दूरों की सर्वहारा चेतना की प्रखरता और जीवन-दृष्टि के विस्तार में बाधा पैदा करती है और कूपमण्डुकता को टूटने नहीं देती। हालाँकि पूँजी की व्यापक और तीखी होती मार इस स्थिति को बदल रही है, लेकिन अभी तो यही स्थिति है। इन कारणों से भारतीय मज़दूर वर्ग के अपने ‘ऑर्गेनिक इण्टेलेक्चुअल्स’ की एक अच्छी-खासी संख्या का बहुत जल्दी सामने आ पाना सम्भव नहीं है। इसके लिए

राजनीतिक शिक्षा एवं प्रचार कार्य और राजनीतिक संघर्षों की एक सापेक्षतः अधिक दीर्घकालिक, अधिक सघन, अधिक वैविध्यपूर्ण और अधिक सर्जनात्मक प्रक्रिया की दरकार होगी। साथ ही, मजदूर वर्ग के बीच क्रान्तिकारी सांस्कृतिक-सामाजिक कार्यों पर भी बहुत अधिक जोर देना पड़ेगा। भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन ने कभी इस प्रश्न को सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में जानने-समझने की कोशिश नहीं की, लेकिन यह एक अलग ऐतिहासिक प्रसंग है।

इस पूरी चर्चा का सारांश यह है कि पूँजीवाद-साम्राज्यवाद के विरुद्ध जो एकमात्र विकल्प एक ऐतिहासिक सम्भावना हो सकती है, वह है समाजवाद। और समाजवाद के लिए नये सिरे से संगठित किये जाने वाले संघर्ष में नेतृत्वकारी भूमिका मजदूर वर्ग की ही हो सकती है। मध्य वर्ग के जिस हिस्से के लिए पूँजीवाद में कोई भविष्य नहीं है, उसके सामने एकमात्र रास्ता यही बचता है कि वह निष्क्रियता, निराशा, निरुपायता में जीने या दिशाहीन आन्दोलनों-विद्रोहों और अराजकतावाद-आतंकवाद का रास्ता अपनाने के बजाय अपने संघर्षों को व्यापक मजदूर आबादी के संघर्षों से जोड़े और समाजवादी क्रान्ति के नये संस्करणों के निर्माण में सहभागी बने। और मध्य वर्ग के इस हिस्से की भूमिका मात्र इतनी ही नहीं है। सर्वहारा वर्ग के संघर्षों की एक नयी शुरुआत के दौर में, यूँ कहें कि इस नयी शुरुआत के लिए, ज़रूरी है कि निम्न और मध्यम-मध्य वर्ग के सर्वाधिक उन्नत चेतना वाले रैडिकल तत्त्व सर्वहारा वर्ग के जीवन और लक्ष्य के साथ एकरूप हो जायें, अपना सर्वहाराकरण करें, सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान को आत्मसात करें, सर्वहारा वर्ग की हरावल कृतारों की भूमिका निभायें और मजदूर आन्दोलन के भीतर समाजवाद के विचार को ले जाने में जुट जायें। निश्चय ही, आगे चलकर मजदूर वर्ग के भीतर से भी बड़ी तादाद में ऐसे उन्नत बौद्धिक तत्त्व उभरकर आगे आयेंगे, पर शुरुआती दौर में उनकी संख्या बहुत कम होगी। ऐसे प्रारम्भिक दौर में मध्य वर्ग से आकर सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान और लक्ष्य को अपनाने वाले उन्नत चेतनशील तत्त्वों की भूमिका बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। यह बात आमतौर पर सही है, लेकिन भारत की विशेष सामाजिक-राजनीतिक स्थिति में और आज जैसे दौर में इसका महत्व और अधिक हो जाता है।



हमारे देश के शिक्षित मध्य वर्ग के परेशानहाल हिस्सों का जो प्रबुद्ध और परिवर्तनकामी युवा समुदाय है, वह भी उत्पादकों और उत्पादन की दुनिया से कटा हुआ है और इसलिए व्यापक मेहनतकश जनसमुदाय की इतिहास-निर्मात्री शक्ति

से अपरिचित है। इसीलिए शासक वर्गों के वैचारिक-सांस्कृतिक प्रचार से प्रभावित होकर वह भी जनता को एक विचारहीन भीड़ मानने लगता है। वह आभासी यथार्थ को भेदकर इतिहास के इस सारभूत यथार्थ को नहीं पकड़ पाता कि जो लोग अपने श्रम से दुनिया की तमाम भौतिक सम्पदा का सृजन करते हैं, वही वस्तुतः तमाम आत्मिक-सामाजिक सम्पदा के निर्माण की भी मूल कारक शक्ति हैं और भविष्य का निर्माण भी उन्हीं की समष्टिगत सर्जनात्मक शक्ति को निर्बन्ध करके किया जा सकता है। ज्ञान भी वस्तुतः एक सामाजिक सम्पत्ति है, जिस पर पूँजीवादी श्रम-विभाजन ने बलात निजी स्वामित्व की सत्ता कायम कर रखी है। इतिहास में उत्पादन की बुनियादी क्रिया और उस बुनियाद पर कायम सामाजिक सम्बन्धों के सार-संकलन और अमूर्तीकरण से ही तमाम ज्ञान-विज्ञान और कला का जन्म हुआ और उनके विकास के साथ ही इनका विकास हुआ। आगे चलकर वर्ग-विभाजन और श्रम-विभाजन ने भौतिक उत्पादन से आत्मिक उत्पादन की क्रिया को, बौद्धिक श्रम को शारीरिक श्रम से काटकर अलग कर दिया, बुद्धिजीवी वर्ग को एक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग में तब्दील कर दिया और शोषितों-उत्पीड़ितों द्वारा किये जाने वाले शारीरिक श्रम को हेय बना दिया। हमारे समाज में बौद्धिक कार्य करने वाले आम आदमी को भी कुछ विशेष बुर्जुआ अधिकार हासिल होते हैं और वह अपने को शारीरिक श्रम करने वाले प्रत्यक्ष उत्पादक से श्रेष्ठ मानता है। यह श्रेणी-विभाजन उत्पीड़ितों की एकजुटता में बाधक बनता है और शासक वर्ग के लिए अत्यन्त हितकारी सिद्ध होता है। क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी केवल उसे ही कहा जा सकता है, जो सचेतन तौर पर, अपने चिन्तन और व्यवहार में बौद्धिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच के अन्तर को मिटा दे, भौतिक उत्पादन में लगे लोगों को हेय दृष्टि से देखना बन्द कर दे और मेहनतकश जनसमुदाय के साथ पूरी तरह से घुल-मिल जाये।

यह अपेक्षा हम खासतौर पर पढ़े-लिखे मध्य वर्ग के सर्वाधिक उन्नत एवं विद्रोही चेतनावाले युवाओं और छात्रों से ही कर सकते हैं। नौजवान विध्वंस और सर्जना की अपार क्षमता से लैस और सतत विकासमान ऊर्जा-पुंज होते हैं। चीनी क्रान्ति के महान नेता माओ त्से-तुङ ने कहा था : "नौजवान लोग समाज के सबसे अधिक सक्रिय और सबसे अधिक प्राणवान शक्ति होते हैं। उनमें सीखने की सबसे तीव्र इच्छा होती है तथा उनके विचारों में रूढ़िवाद का प्रभाव सबसे कम होता है।" नौजवानी ही आविष्कार, अन्वेषण और रूढ़िभंजन की उम्र होती है। इतिहास में हमेशा से क्रान्तियों को शुरू करने और आगे बढ़ाने वालों में अग्रणी भूमिका नौजवानों की ही रही है और इतिहास के रथ का चक्का जब भी किसी गतिरोध के दलदल में धँसता रहा है तो नौजवान ही अपना कन्धा लगाकर उसे बाहर निकालते रहे हैं। इसीलिए, आज हम मध्य वर्ग के प्रौढ़,

दुनियादार हो चुके गृहस्थों से नहीं, बल्कि रैडिकल, विद्रोही और उन्नत चेतनशील नौजवानों से ही यह अपेक्षा कर सकते हैं कि वे अपनी वर्ग-सीमाओं को तोड़ दें, बद्धमूल संस्कारों से झटके के साथ विच्छेद कर लें और व्यापक मेहनतकश जनसमुदाय के बीच जायें, उसके जीवन से एकता बनायें, उसके बीच सामाजिक कार्य करें, यथासम्भव उत्पादक कार्रवाई में भी हिस्सा लें, उससे जीवन की व्यावहारिक शिक्षा लें, उसके बीच क्रान्तिकारी प्रचार एवं शिक्षा का काम करें तथा उसे जागृत, गोलबन्द और संगठित करें।

इस पूँजीवादी शिक्षा-प्रणाली में हमें सामाजिक यथार्थ को शासक वर्गों के नज़रिये से देखने की शिक्षा मिलती है। पूँजीवादी शिक्षा और संस्कृति में सामाजिक यथार्थ का विकृत-विरूपित परावर्तन होता है। जनता के जीवन से, उत्पादन की प्रक्रिया से और जनता की मुक्ति के लक्ष्य एवं मार्ग से शिक्षित होना ही वास्तविक शिक्षा है। हमें इसी असली शिक्षा का वैकल्पिक मार्ग अपनाना होगा और वैकल्पिक प्रणाली बनानी होगी। पूँजीवादी शिक्षा-प्रणाली हमें प्रकृति, इतिहास और समाज को समझने की वह क्षमता तो दे देती है जो मानव-सभ्यता की विरासत है, पर शिक्षित नौजवान इस क्षमता का इस्तेमाल शासक वर्गों और व्यवस्था के हित में ही करते हैं। जब वे जनसमुदाय के साथ एकाकार हो जाते हैं तो उनके हित के नज़रिये से इतिहास और समाज का अध्ययन करते हैं और फिर इस क्रान्तिकारी ज्ञान को उसी जनसमुदाय तक लेकर जाते हैं। जो प्रबुद्ध, शिक्षित मध्यवर्गीय युवा अपनी समस्याओं-परेशानियों का सामान्यीकरण करते हुए न्याय, समता और ऐतिहासिक प्रगति के पक्षधर बन जाते हैं, उनके विचारों की एकमात्र सार्थकता यही हो सकती है कि वे मेहनतकश आबादी से एकता बनाकर उसे सामाजिक क्रान्ति के लिए संगठित करें, क्योंकि इसके बिना कोई सामाजिक क्रान्ति हो ही नहीं सकती। हमें इस बात को भलीभाँति समझ लेना होगा कि प्रबुद्ध छात्र-युवा समुदाय का व्यापक मेहनतकश जनसमुदाय से पार्थक्य इस पूँजीवादी व्यवस्था की एक मज़बूत सुरक्षा दीवार है। इस दीवार को गिराकर ही कोई प्रबुद्ध, न्यायशील और रैडिकल नौजवान सही मायने में क्रान्तिकारी कहलाने का हक़ हासिल कर सकता है। माओ त्से-तुङ ने एक जगह लिखा है : “कोई नौजवान क्रान्तिकारी है अथवा नहीं, यह जानने की कसौटी क्या है? उसे कैसे पहचाना जाये? इसकी कसौटी केवल एक है, यानी यह देखना चाहिए कि वह व्यापक मज़दूर-किसान जनता के साथ एकरूप हो जाना चाहता है अथवा नहीं, तथा इस बात पर अमल करता है अथवा नहीं? क्रान्तिकारी वह है जो मज़दूरों व किसानों के साथ एकरूप हो जाना चाहता हो, और अपने अमल में मज़दूरों व किसानों के साथ एकरूप हो जाता हो,

वरना वह क्रान्तिकारी नहीं है, या प्रतिक्रान्तिकारी है।”

भगतसिंह भी क्रान्तियों के इतिहास के गहन अध्ययन और अपने अनुभवों के समाहार से इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि मेहनतकश जनता को संगठित करके ही क्रान्ति को सफल बनाया जा सकता है और सच्चे अर्थों में आज़ादी हासिल करके समाजवाद की दिशा में आगे कदम बढ़ाया जा सकता है। भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने पंजाब छात्र संघ, लाहौर के अक्टूबर 1929 में हुए दूसरे अधिवेशन के नाम जेल की कोठरी से जो सन्देश भेजा था उसमें स्पष्ट कहा था : “नौजवानों को क्रान्ति का यह सन्देश देश के कोने-कोने में पहुँचाना है, फ़ैक्ट्री-कारखानों के क्षेत्रों में, गन्दी बस्तियों और गाँवों की जर्जर झोंपड़ियों में रहने वाले करोड़ों लोगों में क्रान्ति की अलख जगानी है जिससे आज़ादी आयेगी और तब एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण असम्भव हो जायेगा।”

जेल की कालकोठरी में गहन अध्ययन-चिन्तन करते हुए भगतसिंह इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि जनता की वास्तविक मुक्ति तभी सम्भव है जब राष्ट्रीय मुक्ति का संघर्ष आगे बढ़कर समाजवाद के लिए संघर्ष बन जाये। उनकी यह समझ स्पष्ट बन चुकी थी कि साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का निर्णायक अन्त एकमात्र श्रमिक क्रान्ति के हाथों ही हो सकता है जिसकी मुख्य ताकत मज़दूर और किसान होंगे तथा जिसका नेतृत्व मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी के हाथों में होगा। अपने इन विचारों को उन्होंने जिस अन्तिम महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ में सूत्रबद्ध किया था उसमें ऐसी पार्टी के निर्माण पर बल देते हुए उन्होंने इसमें शुरुआती दौर में छात्रों-युवाओं से भर्ती की आवश्यकता को रेखांकित किया था। उन्होंने लिखा था : “पार्टी को कार्यकर्ताओं की ज़रूरत होगी, जिन्हें नौजवानों के आन्दोलनों से भर्ती किया जा सकता है। इसीलिए नवयुवकों के आन्दोलन सबसे पहली मंज़िल हैं, जहाँ से हमारा आन्दोलन शुरू होगा। युवक आन्दोलन को अध्ययन-केन्द्र (स्टडी सर्किल) खोलने चाहिए। लीफ़लेट, पैम्फ़लेट, पुस्तकें, मैगज़ीन छापने चाहिए। क्लासों में लेक्चर होने चाहिए। राजनीतिक कार्यकर्ताओं के लिए भर्ती करने और प्रशिक्षण देने की यह सबसे अच्छी जगह होगी।”



भगतसिंह की उपरोक्त उक्ति को पूरी दुनिया के विभिन्न देशों के इतिहास के अनुभवों ने बार-बार सत्यापित किया है। चीनी नवजनवादी क्रान्ति की प्रक्रिया का प्रस्थान बिन्दु मई 1919 के छात्र आन्दोलन का वह प्रचण्ड ज्वार था, जिसके बीच से कई ऐसे प्रतिभाशाली क्रान्तिकारी युवा संगठनकर्ता निकले जिन्होंने मज़दूरों-किसानों को संगठित करने में अग्रणी भूमिका निभायी, जो अपना व्यक्तित्वान्तरण करके मेहनतकश आबादी से जुड़ गये और आगे चलकर क्रान्ति के नेताओं में

शुमार हुए। अफ्रीकी देशों में राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्षों की शुरुआत में जनता के विद्रोहों को नेतृत्व देने के लिए मध्य वर्ग की एक बेहद छोटी-सी आबादी के शिक्षित युवा आगे आये थे। छात्रों की इस पहली पीढ़ी में से ही क्वामे एन्क्रूमा, अमिल्कर कबराल, नेल्सन मण्डेला, सैन नुजोमा, केनेथ काउण्डा, जूलियस न्येरेरे, बेन बेला, बुमेदिएन आदि राष्ट्रीय नायक उभरकर सामने आये। क्यूबा की क्रान्ति और लातिन अमेरिकी देशों के तमाम मुक्ति-संघर्षों का इतिहास भी ऐसा ही रहा है और भारत के राष्ट्रीय क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास में भी हमें यही चीज़ देखने को मिलती है।

आज हम इतिहास के एक ऐसे समय में जी रहे हैं जब क्रान्ति के ऊपर प्रतिक्रान्ति की लहर हावी है। बीसवीं शताब्दी की मजदूर क्रान्तियों की पराजय के परिणामस्वरूप, पूरी दुनिया पर मानो एकबारगी पूँजीवादी लूट-खसोट का एकछत्र साम्राज्य स्थापित हो गया है। भारत जैसे सभी पिछड़े देशों के पूँजीवादी शासकों ने अपने देशों को साम्राज्यवादी लूट का खुला चरागाह बना दिया है और खुद भी चोरों-बटमारों-डकैतों की तरह जनता को लूट रहे हैं। पूँजीपतियों के भाड़े के कलमघसीट इसे पूँजीवाद की अन्तिम और निर्णायक जीत बता रहे हैं, लेकिन न तो इतिहास का तर्क और न ही देश-दुनिया के हालात उनके पक्ष में गवाही दे रहे हैं। एक ओर विश्व-पूँजीवाद के असाध्य ढाँचागत संकट तो दूसरी ओर बेशुमार लूट, महँगाई, बेरोज़गारी और धनी-गरीब की बढ़ती खाई से त्रस्त जनसमुदाय के उग्र आन्दोलन, जो लातिन अमेरिकी देशों, चीन, रूस और पूर्व सोवियत संघ के घटक देशों में लगातार उठ रहे हैं, इस सच्चाई को पुष्ट कर रहे हैं कि पूँजीवाद इतिहास का आखिरी युग नहीं है और जनता पूँजीवादी बर्बरता को अनन्त काल तक झेलने के लिए क़तई तैयार नहीं है। न केवल इराक, बल्कि पूरा अरब क्षेत्र ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा है। उन्नत पूँजीवादी देशों में भी एक बार फिर बदहाल मजदूरों और बेरोज़गारों के आन्दोलन ज़ोर पकड़ रहे हैं। साम्राज्यवादियों के बीच लूट की होड़ फिर गहराती जा रही है।

यह पूरी स्थिति बता रही है कि आज की पूँजीवादी दुनिया में पूँजीवाद के सभी बुनियादी अन्तरविरोध एक बार फिर मुखर हो रहे हैं और इनके हल की दिशा में आगे बढ़ना ही इतिहास की आन्तरिक गति है। बुनियादी सवाल यह है कि भावी नयी सर्वहारा क्रान्तियों की नेतृत्वकारी शक्तियाँ आज की दुनिया के अन्तरविरोधों को समझकर और इतिहास का सार-संकलन करके, एक बार फिर संगठित होने में कितना समय लगायेंगी! आज की दुनिया की परिस्थितियों को समझकर ही सर्वहारा क्रान्ति के नये संस्करण रचे जा सकते हैं। अतीत की क्रान्तियों से सीखा जा सकता है, किन्तु उनका अन्धानुकरण नहीं किया जा सकता। क्रान्तियों के सम्भावित तूफानों के केन्द्र आज भी दुनिया के वही देश हैं

जो पहले उपनिवेश-अर्द्धउपनिवेश-नवउपनिवेश थे। यही देश आज भी साम्राज्यवादी लूट का सर्वाधिक दबाव झेल रहे हैं। पर इन देशों में प्रश्न आज राष्ट्रीय मुक्ति का या सामन्तवाद-विरोध का नहीं है। इन देशों में क्रमिक गति से होने वाला पूँजीवादी विकास उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के दौर में तेजी से अपने अंजाम तक जा पहुँचा है, और ये पिछड़े पूँजीवादी देश अब साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में स्पष्ट एवं निर्णायक रूप से प्रविष्ट हो चुके हैं। जो क्रान्तिकारी इन नयी परिस्थितियों को सही ढंग से समझ सकेंगे, वही नये सिरे से स्वयं को नयी मजदूर क्रान्तियों की नेतृत्वकारी शक्ति के रूप में संगठित कर सकेंगे।

इस ऐतिहासिक सन्दर्भ में, यह एक नयी शुरुआत का समय है और जैसाकि हमने पहले ही कहा है, ऐसे दौरों में क्रान्तिकारी छात्र-युवाओं की भूमिका और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। ऐसे प्रबुद्ध, रैडिकल छात्रों-युवाओं को, जो इतिहास की गतिकी और क्रान्ति के विज्ञान को समझकर मेहनतकश जनसमुदाय से एकरूप हो जाने के लिए तैयार हैं, ठण्डी तटस्थता, निर्मम कायरता और मुर्दा शान्ति के विरुद्ध विद्रोह का गगनभेदी बिगुल फूँक देना होगा। उन्हें आज की दुनिया और अपने देश की परिस्थितियों का, क्रान्ति के विज्ञान का और क्रान्तियों के इतिहास का गहन अध्ययन करना होगा। उन्हें व्यापक छात्र-युवा आबादी को बेरोजगारी के प्रश्न पर, समान शिक्षा और सबको रोजगार के प्रश्न पर और जनवादी अधिकारों के प्रश्न पर लामबन्द करना होगा। उन्हें निम्न-मध्य वर्ग के युवाओं को पूँजीवादी राजनीति के चक्कर-चपेट से बचाने और जातिवादी राजनीति या धार्मिक कट्टरपन्थी फ़ासिस्ट गिरोहों का पिछलगू और लठैत बनाने से बचाने के लिए निरन्तर श्रमसाध्य और सघन प्रचार-कार्य करना होगा तथा राजनीतिक शिक्षा का ठोस कार्यक्रम हाथ में लेना होगा। नवउदारवादी आर्थिक नीतियों पर अमल के विगत सत्रह वर्षों के दौरान हमारे देश की शिक्षा-व्यवस्था में भी बदलाव आये हैं और इसका पूरी तरह से व्यवसायीकरण हो गया है। शिक्षा पूँजी-निवेश का क्षेत्र बन गयी है और देशी-विदेशी पूँजीपति घराने पूँजी लगाकर अपनी हितपूर्ति के लिए व्यवस्था के चाकर पैदा करने के साथ-साथ मुनाफ़ा भी कमा रहे हैं। प्रबन्धन, वाणिज्य, तकनोलॉजी और विविध व्यावसायिक शिक्षाओं पर जोर बढ़ा है और मानविकी और कला-साहित्य के विषय बस बेरोजगारों के वक्त काटने के लिए रह गये हैं। जिस पढ़ाई से नौकरी मिल सकती है, वहाँ तक केवल उच्च-मध्य वर्ग की ही पहुँच सम्भव रह गयी है। इस स्थिति ने उच्च शिक्षा के कैम्पसों की वर्गीय संरचना को प्रभावित किया है। अब मेडिकल-इंजीनियरिंग-वाणिज्य-प्रबन्धन आदि के संस्थानों में तो उच्च-मध्य वर्ग के उन्हीं युवाओं की बहुतायत है जो पूँजीवाद के प्रचण्ड पक्षधर और पैरोकार हैं। महानगरों के

कॉलेजों-विश्वविद्यालयों में भी बढ़ती फ़ीसों, घटती सीटों और आर्थिक बदहाली ने निम्न-मध्य वर्ग के आम छात्रों की आबादी को काफी कम कर दिया है। छोटे शहरों-कस्बों के कॉलेजों-विश्वविद्यालयों में ज़रूर अभी निम्न-मध्य वर्ग के छात्रों की आबादी काफी है; जिसकी राजनीतिक चेतना का धरातल तो नीचे है लेकिन विद्रोह की भावना वहाँ गहरी है। लेकिन कुल मिलाकर, निम्न-मध्य वर्ग पर बढ़ते आर्थिक दबाव और बेरोज़गारी के चलते इस तबके के युवाओं की एक भारी संख्या विगत दो दशकों के दौरान उच्च शिक्षा के कैम्पसों से बाहर हो गयी है और या तो छोटी-मोटी अस्थायी और पार्टटाइम नौकरी करती हुई या फिर दिहाड़ी मज़दूरी तक करती हुई, या फिर नौकरियों के फॉर्म भर्ती हुई बेरोज़गारी का समय काट रही है। निम्न-मध्य वर्ग के बहुसंख्यक नौजवानों की यही स्थिति है और इनमें विद्रोह का लावा खौल रहा है। कैम्पसों की आबादी की बदलती संरचना ने कैम्पस केन्द्रित छात्र-आन्दोलनों की सम्भावना और शक्ति को क्षरित कर दिया है और आज की स्थिति में शिक्षा और रोज़गार के समान अधिकार के प्रश्न पर व्यापक छात्र-युवा आन्दोलन की तैयारी की प्रक्रिया भले ही लम्बी और कठिन हो, पर परिस्थितियाँ इसी के लिए अधिक तैयार हैं।

साथ ही, ज़रूरत इस बात की है कि छात्र-युवा समुदाय रोज़गार और शिक्षा के अधिकार की अपनी लड़ाई को व्यवस्था-परिवर्तन की व्यापक लड़ाई का एक अंग बनाये और इसे मेहनतकश आबादी के संघर्षों से जोड़े। ज़रूरी है कि क्रान्तिकारी छात्र-नौजवान अपने निकटवर्ती क्षेत्र के मज़दूरों के संघर्षों को न केवल भरपूर सहयोग करें बल्कि उनमें भागीदारी भी करें। इसके लिए नेतृत्वकारी भूमिका निभाने वालों को विशेष पहल लेनी होगी। इसकी अगली मंज़िल में रोज़गार, महँगाई और राजनीतिक अधिकारों के विविध मुद्दों पर मेहनतकश जनसमुदाय के साथ संयुक्त मोर्चा और साझा संघर्ष की परिस्थितियाँ तैयार हो सकती हैं।

पर बात केवल यहीं आकर ख़त्म नहीं हो जाती कि छात्र-युवा आन्दोलन को व्यापक जनसमुदाय के संघर्षों से जोड़ने के लिए उसका क्रान्तिकारी नेतृत्व सतत प्रयास करे। यह तो हर हाल में करना ही होता है। आज की परिस्थिति की जो विशेष ऐतिहासिक ज़रूरत है, वह यह है कि क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी के रूप में – निम्न-मध्य वर्ग के छात्रों-युवाओं के जो सबसे उन्नत चेतना वाले, सबसे प्रबुद्ध, सबसे रैडिकल तत्त्व हैं, वे न केवल सर्वहारा क्रान्ति के विज्ञान को आत्मसात करें बल्कि व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच जायें, उनके साथ घुल-मिलकर अपना सर्वहाराकरण करें, उत्पादक कार्रवाइयों से जुड़ें और फिर मेहनतकशों को जागृत और संगठित करने के काम में लग जायें। यह अपेक्षा हम एक आम आन्दोलनकारी छात्र से नहीं कर सकते। लेकिन उन्नत चेतनाशील क्रान्तिकारी छात्रों-युवाओं से यह अपेक्षा अवश्य की जा सकती है और अवश्य ही

की जानी चाहिए, क्योंकि यह नये सिरे से क्रान्तिकारी शुरुआत करने का समय है और जैसाकि ऊपर विस्तार से चर्चा की गयी है, ऐसे किसी दौर में निम्न-मध्य वर्ग से आकर सर्वहारा वर्ग के जीवन और ऐतिहासिक मिशन को अपनाने वाले उन्नत तत्त्वों की एक छोटी-सी संख्या की भूमिका ऐतिहासिक होती है।

हमारा यह ठोस सुझाव है कि कैम्पसों से, छुट्टियों के दौरान ऐसे छात्रों की टोलियाँ बनाकर मजदूर बस्तियों में जाना चाहिए। वहाँ रुककर उत्पादन कार्य में भी कुछ भागीदारी करनी चाहिए। दिहाड़ीकरण-ठेकाकरण के इस समय में कुछ न कुछ मजदूरी का काम मिल ही जाता है। इसके साथ ही मजदूरों को, मजदूर स्त्रियों को और उनके बच्चों को पढ़ाने का और इसी दौरान देश-दुनिया-समाज का ज्ञान देने का काम करना चाहिए, स्वास्थ्य-सफ़ाई आदि के अभियान चलाने चाहिए, युवा मजदूरों और मजदूरों के युवा बेटों को खेलकूद और सांस्कृतिक कार्रवाइयों के दौरान शिक्षित और संगठित करना चाहिए। उन्हें क्रान्तिकारियों और क्रान्तियों के इतिहास से परिचित कराना चाहिए। छुट्टियाँ समाप्त होने के बाद भी, बीच-बीच में जाकर इस प्रक्रिया को चलाते रहा जा सकता है। ऐसे उन्नत क्रान्तिकारी चेतना वाले छात्र छात्रावास और किराये की जगहें छोड़कर यदि मजदूर बस्तियों में ही रह सकें तो और भी अच्छा है। इसी प्रक्रिया में उन्हें मजदूरों की जीवन-स्थितियों की गहरी जानकारी होगी और एक दिन उनकी भूमिका मजदूर संगठनकर्ता की बनने लगेगी।

जाहिर है कि यह एक लम्बी प्रक्रिया होगी, लेकिन फ़िलहाल यहाँ से एक शुरुआत तो की ही जा सकती है। मेहनतकशों से एकता बनाने, सामाजिक अलगाव की दीवारों को गिरा देने और स्वयं अपने भीतर पैठे मध्यवर्गीय अलगाव से पैदा हुए अकेलेपन के सन्नास और आत्मनिर्वासन की घुटन एवं आत्महन्ता अवसाद-ग्रन्थि से मुक्त होकर अपनी सर्जनात्मक ऊर्जा को निर्बन्ध कर देने तथा अपने को साहसिक सामाजिक प्रयोगों के लिए तैयार कर लेने के लिए, हम तमाम बहादुर, इन्साफ़पसन्द, परिवर्तकामी छात्रों-युवाओं के सामने यह ठोस प्रस्ताव रख रहे हैं। ●

कैम्पसों का बदलता वर्ग-चरित्र और छात्र-युवा आन्दोलन की चुनौतियाँ

पिछले दो दशकों के दौरान देश के कैम्पसों में एक चुप्पी छापी रही है। कहीं भी वास्तविक मुद्दों को लेकर कोई बड़ा छात्र आन्दोलन नहीं हुआ है और एक सन्नाटा पसरा रहा है। हालाँकि संघर्ष के मुद्दों में कहीं कोई कमी आने की बजाय लगातार बढ़ोत्तरी ही हुई है। विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में मानव संसाधन मन्त्रालय की आम नीति के तहत लगातार सीटों में कमी की गयी है और फ़ीसों में वृद्धि की गयी है। सीटों में कमी निरपेक्ष रूप में नहीं बल्कि कुल उच्चतर शिक्षा के योग्य नौजवान आबादी की तुलना में हुई है। ऐसे में इस बात की जाँच-पड़ताल प्रासंगिक हो गयी है कि इस चुप्पी के पीछे कौन-से कारण काम कर रहे हैं। हमारा नज़रिया तथ्यों से सत्य के निवारण का होना चाहिए। इसलिए इससे पहले कि कोई परिणाममूलक बात कही जाये, उच्चतर शिक्षा से जुड़े कुछ आँकड़ों पर निगाह डाल लेना उपयोगी होगा।

भारत दुनियाभर में विश्वविद्यालयों की भारी संख्या और स्नातक और स्नातकोत्तर छात्रों की भारी संख्या के लिए जाना जाता है। इस बात का काफी प्रचार पिछले दशक के दौरान किया गया है कि भारत में स्नातक और स्नातकोत्तर छात्रों की आबादी काफी ज़्यादा है। लेकिन इस बात में बहुत दम नहीं है। संख्या के अधिक या कम होने का फ़ैसला कुल उच्चतर शिक्षा योग्य आबादी के साथ उच्चतर शिक्षा तक पहुँच पाने वाली आबादी के अनुपात से होना चाहिए। और ऐसे समय में जब सरकार खुद कहती है कि पारम्परिक उच्चतर शिक्षा का 'सिग्नलिंग इफ़ेक्ट' ख़त्म हो गया है, यानी रोज़गार आदि के लिहाज़ से उसका कोई मूल्य नहीं रह गया है और अब पेशेवर पाठ्यक्रमों और वोकेशनल पाठ्यक्रमों का ही रोज़गार आदि की दृष्टि से कोई मतलब रह गया है, तो यह बात सोचने की है कि उच्चतर शिक्षा योग्य आबादी का कितना प्रतिशत हिस्सा इन पेशेवर पाठ्यक्रमों और वोकेशनल पाठ्यक्रमों में दाख़िला लेने की क़ूव्वत रखता है। कुछ बड़े और केन्द्रीय विश्वविद्यालयों को छोड़ दिया जाये तो पारम्परिक उच्चतर शिक्षा, यानी बी.ए.-एम.ए.-बी.एससी-एम.एससी. जैसे पाठ्यक्रमों का स्तर काफी नीचे गिरा है और वे रोज़गारोन्मुख नहीं रह गये हैं। आई.आई.टी. और मेडिकल तक पहुँच पाने

की हैसियत सिर्फ उच्च-मध्य वर्ग और उच्च वर्ग की ही है। भारतीय प्रबन्धन संस्थान जैसी जगहों पर तो उच्च-मध्य वर्ग भी बड़ी मुश्किल से ही पहुँच पाता है और वह पूरी तरह अमीरज़ादों की बपौती बना हुआ है। इनमें जाने वाले धनी छात्रों का सपना भारत में रहना होता ही नहीं है और उनकी पूरी शिक्षा ही इस तरह से होती है जो उनके बाहर जाने का रास्ता साफ़ करे। दूसरी तरफ़ विश्वविद्यालय कैम्पसों का भी तेज़ी से कुलीनीकरण हो रहा है। पुरानी पारम्परिक उच्चतर शिक्षा को भी कुछ वर्गों का विशेषाधिकार बनाये जाने की प्रक्रिया 1986 की नयी शिक्षा नीति के बाद, और खासतौर पर भूमण्डलीकरण-उदारीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद से तेज़ी से चलायी जा रही है। यह बात कुछ आँकड़ों से ही साफ़ हो जाती है।

2005 के मध्य तक भारत में 342 विश्वविद्यालय थे जिनमें से 18 केन्द्रीय विश्वविद्यालय, 211 राज्य विश्वविद्यालय, 95 मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालय, राज्य क़ानून के तहत स्थापित 5 संस्थान और राष्ट्रीय महत्त्व के 13 संस्थान हैं। कॉलेजों की संख्या उसी समय तक 17,625 थी जिसमें से 5,386 विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा मान्यता प्राप्त हैं। इन संस्थाओं में 104.81 लाख छात्र पढ़ रहे हैं। यह पिछले वर्ष के छात्रों की संख्या से अधिक है। निरपेक्ष रूप में तो उच्चतर शिक्षा में छात्रों की संख्या बढ़ी है, लेकिन उच्चतर शिक्षा के योग्य आबादी के हिस्से के तौर पर यह संख्या घटी है। भारत में उच्चतर शिक्षा के योग्य आबादी के महज़ 7 फ़ीसदी हिस्से को ही उच्च शिक्षा प्राप्त है जो विकसित देशों के मानकों के सामने बहुत ही कम है जहाँ यह आँकड़ा 25 फ़ीसदी के ऊपर ही रहता है। उच्चतर शिक्षा पर सरकार के खर्च में भी लगातार कमी आयी है। 1970 के दशक में उच्चतर शिक्षा पर सरकार का खर्च सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 1 प्रतिशत था जो 1990 के दशक में घटकर 0.35 प्रतिशत रह गया। दूसरी तरफ़ अब उच्चतर शिक्षा पर होने वाले खर्च का बड़ा हिस्सा छात्रों की जेब से ही वसूला जा रहा है। 1983 में, यानी नयी शिक्षा नीति के लागू होने से पहले, उच्चतर शिक्षा पर खर्च का 80 प्रतिशत हिस्सा सरकार दे रही थी और छात्रों से महज़ ट्यूशन शुल्क ही ले रही थी। 1999 में यह प्रतिशत घटकर 67 प्रतिशत रह गया। दूसरी तरफ़ छात्रों की जेब से 1988 में जितना वसूला जा रहा था वह 2004 तक 10.8 गुना बढ़ गया। साफ़ है कि सरकार लगातार शिक्षा को स्ववित्तपोषित बना रही है। यानी, सीधे शब्दों में कहा जाये तो शिक्षा को एक बिकाऊ माल बना रही है। जिसकी औक़ात हो वह शिक्षा ख़रीद ले! नतीजा यह हुआ है कि पिछले दो दशकों में उच्चतर शिक्षा तक निम्न और निम्न-मध्य वर्गों की पहुँच लगातार घटती गयी है। विश्वविद्यालय कैम्पसों का पूरा वर्ग-चरित्र भारी परिवर्तन से होकर गुज़रा है और यह प्रक्रिया अभी ख़त्म नहीं हुई है।

दूसरी तरफ़ इंजीनियरिंग और मेडिकल जैसे पेशेवर शिक्षा संस्थानों से भी सरकार ने लगातार अपने हाथ खींचे हैं। 1960 में इंजीनियरिंग की शिक्षा में सिर्फ़ 15 प्रतिशत सीटें प्राइवेट इंजीनियरिंग कॉलेजों में थीं। 2004 में यह आँकड़ा बढ़कर 86.4 प्रतिशत हो गया। मेडिकल शिक्षा में 1960 में सिर्फ़ 6.8 प्रतिशत सीटें ही प्राइवेट थीं जबकि यह 2004 में बढ़कर 40.9 प्रतिशत हो गयीं। प्रबन्धन संस्थानों में पहले ही निजी सीटों की संख्या कुल सीटों के 90 प्रतिशत है। इन आँकड़ों से साफ़ है कि सरकार दोनों ही किस्म की शिक्षा में, यानी पारम्परिक विश्वविद्यालय आधारित उच्चतर शिक्षा और मेडिकल, इंजीनियरिंग और प्रबन्धन जैसी पेशेवर उच्चतर शिक्षा, लगातार निजीकरण कर रही है, लगातार उसे एक बाज़ारू माल बना रही है, और लगातार ऐसी स्थिति पैदा कर रही है कि निम्न-मध्य वर्ग, आम मध्य वर्ग के लड़के-लड़कियाँ उच्चतर शिक्षा तक पहुँच ही न पायें।

इसके पीछे मक़सद बिल्कुल साफ़ है। सरकार स्वयं ही यह कह रही है कि अब विकास रोज़गारविहीन विकास होगा और रोज़गार पैदा करना सरकार की ज़िम्मेदारी नहीं है। ऐसे में अगर आम आबादी के छात्र भारी संख्या में स्नातक और स्नातकोत्तर की डिग्रियाँ लिये सड़क पर चपपलें फटकायेंगे तो उनके दिलों में व्यवस्था के प्रति गुस्सा कहीं अधिक होगा और उनकी बगावती भावना व्यवस्था के लिए ख़तरनाक सिद्ध हो सकती है। इसलिए सबसे बेहतर होगा कि ऐसे छात्रों को विश्वविद्यालय कैम्पसों तक पहुँचने ही न दिया जाये। न वे उस मंज़िल तक पहुँचेंगे और न ही रोज़गार आदि के बारे में वैसे सपने पालेंगे। उन्हें पहले ही कुण्ठित कर दिया जाये तो किसी उथल-पुथल भरी स्थिति को पैदा होने से रोका जा सकता है। उनको भरमाने-फुसलाने-बहलाने के लिए बिड़ला-अम्बानी कमेटी ने एक नया शोशा उछाला। उन्होंने मूल्य-आधारित शिक्षा की बात की। एन.सी.ई.आर.टी. के नेशनल फ़्रेमवर्क फ़ॉर करिकुलम नामक अपने दस्तावेज़ में इस कमेटी ने इस बात की सिफ़ारिश की कि प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर ही छात्रों को वर्ग और क्षमता के आधार पर वर्गीकृत कर दिया जाना चाहिए और आगे की शिक्षा की दिशा इसी वर्गीकरण के आधार पर तैयार होनी चाहिए। यानी स्कूली शिक्षा के दौरान ही औकात के हिसाब से यह तय कर दिया जाना चाहिए कि कौन उच्चतर शिक्षा तक पहुँच सकता है। जो पहुँच सकते हैं, यानी जो बढ़ती फ़ीसों को चुकाने की औकात रखते हैं वे कैम्पसों तक पहुँचेंगे और बाकी के लिए कमेटी ने तकनीकी शिक्षा की वकालत की। यानी बाकियों के लिए आई.टी.आई. और पॉलीटेक्निक। जो उनमें भी न पहुँच सकें वे दसवीं या बारहवीं के बाद देश की कुशल-अर्द्धकुशल मजदूर आबादी में शामिल हो जायें और जो इतना भी न कर पायें वे देश की बेरोज़गारों की फ़ौज में शामिल हो जायें, क्योंकि अम्बानी और

बिड़ला को यह फ़ौज भी चाहिए। अम्बानी-बिड़ला कमेटी ने विश्व बैंक की 2004 की रिपोर्ट के सुर में सुर मिलाते हुए कहा कि सरकार को उच्चतर शिक्षा से विनिवेश करके प्राथमिक शिक्षा में निवेश करना चाहिए क्योंकि यह सामाजिक विषमता को कम करेगा। सबसे अहम सवाल तो यह है कि शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद का 6 प्रतिशत निवेश करने का वायदा करने वाली सरकार यह निवेश 3 से 4 प्रतिशत के बीच ही करती है। ऐसे में यदि शिक्षा में निवेश 6 प्रतिशत किया जाये तो प्राथमिक शिक्षा में निवेश उच्चतर शिक्षा की कीमत पर नहीं करना पड़ेगा। लेकिन यह उम्मीद करना ही बेकार है क्योंकि सरकार को उच्चतर शिक्षा को एक विशेषाधिकार बनाना है। यह तर्क भी सच्चाइयों से कहीं मेल नहीं खाता है कि उच्चतर शिक्षा के कारण प्राथमिक शिक्षा की उपेक्षा हो रही है। सच्चाई यह है कि शिक्षा पर कुल खर्च का सिर्फ 10 प्रतिशत ही उच्चतर शिक्षा पर खर्च होता है। 1980 के दशक के पूर्वार्द्ध में यह आँकड़ा 15 प्रतिशत था। तो उच्चतर शिक्षा पर तो सरकार वैसे ही कम खर्च कर रही है। अब इस खर्च को नगण्य बनाने की तरफ़ क़दम बढ़ाये जा रहे हैं ताकि आम घरों के लड़के-लड़कियों को कैम्पस पहुँचने से रोका जा सके।

एक और परिघटना जो उच्चतर शिक्षा जगत में घटित हो रही है वह है **शिक्षा का अनौपचारिकीकरण**। एक ओर तो नियमित छात्रों की संख्या में लगातार कटौती की जा रही है और वहीं दूसरी ओर पत्राचार, बाह्य शिक्षा आदि में सीटों को लगातार बढ़ाया जा रहा है। तमाम विश्वविद्यालयों के पत्राचार विभाग में छात्रों का दाखिला लगातार बढ़ा है। नौजवानों को बताया जाता है कि बी.ए. और एम.ए. से तो कुछ मिलता नहीं है, लेकिन अगर तुम पढ़ना ही चाहते हो तो पत्राचार में दाखिला ले लो, और साथ में कम्प्यूटर, हार्डवेयर आदि सीख लो। या सीख चुके हो तो नौकरी कर लो और साथ में पत्राचार से स्नातक या स्नातकोत्तर हो जाओ। यह रास्ता काफ़ी सुगम भी लगता है। देश के सबसे बड़े पत्राचार विश्वविद्यालय इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय में छात्रों की बढ़ती संख्या से ही इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है। 1987 में इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय में महज़ 4,000 छात्र थे। 1998 में यह संख्या 1,60,000 पहुँच चुकी थी और फ़िलहाल यह 13,11,145 है। लेकिन साथ ही, 2006 में इन्हीं में बी.ए. में सिर्फ 5 प्रतिशत छात्र ही पास हो पाये। यानी, इसमें भी व्यवस्था और पाठ्यक्रम कुछ ऐसे बनाया गया है कि बेहद कम छात्र ही पास हो सकें। यानी लोगों को उच्चतर शिक्षा की हवामिठाई! स्नातक छात्रों की संख्या में कोई खास बढ़ोत्तरी भी नहीं और कोई कैम्पस खड़ा करने का झंझट भी नहीं!

लेकिन शिक्षा के इस “पत्राचारीकरण” में इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि छात्रों को एक जगह बड़ी संख्या में एकजुट होने से रोका जा

रहा है। पत्राचार के छात्रों का कोई कैम्पस नहीं होता और न ही नियमित तौर पर वे किसी एक स्थान पर मिलते हैं। ऐसे में उनको गोलबन्द और संगठित किये जाने के रास्ते में एक बाधा खड़ी करने में सरकार सफल हो जाती है। जिस तरह उद्योगों के अनौपचारिकीकरण के द्वारा बड़ी कारखाना इकाइयों को तोड़कर छोटी-छोटी इकाइयाँ बनायी जा रही हैं उसी तरह छात्रों के भी नियमित कैम्पसों को खत्म करके पत्राचार शिक्षा का खेल खेला गया है। मज़दूर अब बड़ी संख्या में कारखानों में इकट्ठा नहीं होते और नतीजतन उन्हें यूनियनों में संगठित करके लड़ने की सम्भावना कम होती जा रही है। कारखाना-केन्द्रित आर्थिक संघर्षों का स्कोप कम से कम होता जा रहा है। एक दूसरे रूप में कैम्पस आधारित लड़ाइयों की ज़मीन भी तेज़ी से खत्म हो रही है। पत्राचार में पढ़ने वाले छात्रों की वर्ग-चेतना भी एक जगह एकजुट न होने के कारण कुन्द होती जाती है।

जैसाकि हम पहले भी कह चुके हैं, कैम्पसों तक अब आम घरों के युवाओं को पहुँचने से रोका जा रहा है। पिछले दो दशकों में बढ़ती फीसों और घटती सीटों के कारण उच्चतर शिक्षा तक आम मध्य वर्ग की पहुँच भी काफी कम हुई है। दूसरी ओर, अगर कोई आम मध्य वर्ग का आदमी उतने पैसे खर्च करना भी चाहता है तो वह तमाम प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए अपने बच्चे को कोचिंग दिलाने पर, या किसी पेशेवर या वोकेशनल कोर्स में दाखिला दिलाने पर खर्च करता है। ऐसे में कैम्पस नवधनाद्यों और नवकुलीनों का अड्डा बनता जा रहा है। पूरे कैम्पस का वर्ग-चरित्र तेज़ी से बदल रहा है। ऐसा नहीं है कि आम मध्य वर्ग बिल्कुल ही कैम्पस नहीं पहुँच पा रहा है। शिक्षण आदि जैसे कुछ पेशे हैं जिनके लिए अभी भी पारम्परिक उच्चतर शिक्षा की ही आवश्यकता पड़ती है और ऐसे पेशों के लिए आम घरों के युवा अभी भी कैम्पस में दाखिले के लिए संघर्ष करते रहते हैं और उनमें से कुछ पहुँच भी जाते हैं। साथ ही प्रशासनिक सेवाओं के लिए भी स्नातक होना ज़रूरी होता है। लेकिन अब उसके लिए भी आम मध्य वर्ग के लिए विश्वविद्यालयों के दरवाज़े बन्द किये जा रहे हैं। उसके पूरी तरह बन्द होने से पहले जो कैम्पस में प्रवेश कर गया वह कर गया। लेकिन बहुत जल्दी ही एक ऐसी स्थिति पैदा होने जा रही है कि जब कैम्पसों में और खासतौर पर दिल्ली विश्वविद्यालय, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, आदि जैसे कैम्पसों में आम जनता अल्पसंख्यक की स्थिति में पहुँच जायेगी। अभी भी आम घरों से जाने वाले युवाओं की संख्या कोई बहुत ज़्यादा नहीं है। इस तरह से कैम्पस में आने वाले समय में वही आबादी पहुँच पायेगी जो उच्चतर शिक्षा की कीमत चुकाने की औकात रखेगी।

यही कारण है कैम्पस राजनीति के एम.एल.ए.-एम.पी. बनने के प्रशिक्षण केन्द्र

बनने की ज़मीन और अच्छी तरह से तैयार हो गयी है। कैम्पस में जो वर्ग पहुँच रहा है उसकी राजनीति यही है। जो वर्ग क्रान्तिकारी राजनीति का एक मॉडल कैम्पस में खड़ा कर सकता था उसे कैम्पस में पहुँचने ही नहीं दिया जा रहा है। कैम्पस में लम्पट किस्म की छात्र राजनीति और गुण्डागर्दी बढ़ने का सबसे बड़ा कारण यही है – कैम्पसों को बदलता वर्ग-चरित्र। नवधनाहियों और नवकुलीनों की जो आबादी कैम्पस में आ रही है उसका एक प्रमुख हिस्सा इस या उस चुनावी पार्टी के लग्गू-भग्गू के साथ जुड़कर संसद-विधानसभाओं में पहुँचने की तैयारी में लगेगा। इन छात्रों में तथाकथित वामपन्थी और सामाजिक जनवादी शिक्षकों के प्रभाव में आकर बौद्धिक विलास करने वाला एक हिस्सा भी होगा जो कैम्पस को एन.जी.ओ. की राजनीति का केन्द्र बनायेगा क्योंकि वर्ग-चरित्र में आये भारी परिवर्तन के बावजूद कैम्पस में आम जनता के कुछ बेटे-बेटी पहुँचते रहेंगे और साथ ही धनिक वर्गों से आने वाले कुछ नौजवान भी अपने वर्ग को त्यागकर देश की आम जनता की लड़ाई में उनके साथ खड़े होंगे। ऐसे नौजवानों को आमूल-चूल परिवर्तन वाली क्रान्तिकारी राजनीति से जुड़ने से रोकने के लिए कुछ गरम-गरम और जनपक्षधर प्रतीत होने वाली दुकानें भी खोलनी ही पड़ेंगी। साथ ही ऐसे नौजवानों की वर्ग कमज़ोरियों को बढ़ावा देने वाली बातें कहते रहने के लिए एन.जी.ओ. राजनीति सबसे उपयुक्त होती है। यह कहती है कि समाज बदलना है तो एन.जी.ओ. में आओ, समाज परिवर्तन का समाज परिवर्तन भी हो जायेगा, जनता के आदमी भी कहाओगे और ठीक-ठाक वेतन भी पाओगे। इन्क़लाबों का युग बीत गया; वह महाख्यानों का युग था। अब पैबन्दसाज़ी का युग है। वर्ग की बात करने का आजकल फ़ैशन नहीं है; जेण्डर की बात करो, जाति की बात करो, 'एथनीसिटी' की बात करो, राष्ट्रियता की बात करो, भाषाई अस्मिता की बात करो, वगैरह। इनकी अस्मिताओं को अखण्डित रखो और इन खण्डों का जश्न मनाओ! वैसे तो एन.जी.ओ. राजनीति एक अलग चर्चा का विषय है, लेकिन यहाँ इतना कह देना ही काफ़ी है कि इसका असल मक़सद जनता के संघर्षों को सुधारवादी और अस्मितावादी राजनीति के गड्ढे में गिरा देना और वर्ग आधारित एकता कायम होने से रोकना है।

कैम्पसों में जनवादी स्पेस के सिकुड़ते जाने की वजहें भी कैम्पस के वर्ग-चरित्र में आने वाले परिवर्तन से जुड़ी हुई हैं। कैम्पसों में जनवाद उसमें मौजूद आन्तरिक वर्ग अन्तरविरोधों के कारण पैदा होता है। कैम्पस में आने वाले विभिन्न वर्गों की नुमाइन्दगी करने वाली राजनीतियों के बीच वर्चस्व के लिए संघर्ष ही इस जनवाद को पैदा करता है। लेकिन अगर कैम्पस में आम जनता के बीच से नौजवान पहुँचेंगे ही नहीं तो ज़ाहिर है कि कैम्पस में पहुँचने वाले धनिक वर्गों के लोगों की राजनीति को चुनौती देने वाली कोई ताक़त संगठित नहीं हो पायेगी और चुनावी

राजनीति का ही एकछत्र राज्य होगा। नतीजतन, जनवादी स्पेस कायम रखने की कोई मजबूरी नहीं होगी। यही कारण है कि पिछले दो दशकों के दौरान कैम्पसों में जनवादी स्पेस तेजी से कम हुआ है।

तो सरकार एक ही तीर से कई शिकार कर रही है। नियमित कैम्पसों से छात्रों की छँटाई की जा रही है। आम घरों के युवाओं को अब कैम्पस में पहुँचने नहीं दिया जा रहा है। और साथ ही लोगों का गुस्सा फूट न पड़े इसके लिए उनके हाथ में पत्राचार शिक्षा का लॉलीपॉप थमाया जा रहा है। इन दोनों के ज़रिये दरअसल कैम्पस को फिर से नये आन्दोलनों की ज़मीन बनने से रोका जा रहा है, ठीक उसी तरह जैसे कारखानों को संघर्षों की ज़मीन बनने से रोका जा रहा है। जो दो ताकतें नये परिवर्तन के ज्वार को लाने में नेतृत्वकारी भूमिकाएँ निभाने वाली हैं उनको गोलबन्द और संगठित करने में व्यवस्था ने बेहद सोचे-समझे तरीके से नयी चुनौतियाँ खड़ी कर दी हैं।

लेकिन यह समय इन चुनौतियों के सामने घुटने टेक देने और नाउम्मीद हो जाने का नहीं है। हमें अपनी सचेतनता का इस्तेमाल करके नकारात्मक को सकारात्मक में बदलना सीखना होगा। यह सच है कि कैम्पस में अलग से किसी छात्र आन्दोलन की ज़मीन खत्म होती जा रही है। यह सच है कि कैम्पस का वर्ग-चरित्र गुणात्मक रूप से बदला है। यह सच है कि अब आम मध्य वर्ग के युवा भी कैम्पस मुश्किल से ही पहुँच पा रहे हैं। यह भी सच है कि शिक्षा के अनौपचारिकीकरण के कारण छात्रों को एक जगह बड़ी संख्या में एकजुट होने से रोककर सरकार छात्रों के बीच एक वर्ग एकजुटता की भावना पैदा होने से रोकने में तात्कालिक रूप से सफल हो गयी है। लेकिन इन सब से निराश होने की बजाय इन नकारात्मकों को सकारात्मकों में तब्दील करने के बारे में सोचा जाना चाहिए।

मजदूरों के बीच भी संगठन का काम मुश्किल हो गया है। क्योंकि उन्हें भी अब एक जगह बड़ी संख्या में एकजुट नहीं होने दिया जा रहा है। लेकिन इसका सीधा जवाब यह है कि मजदूरों को संगठित करने के लिए अब कारखानों से बस्तियों की ओर चला जाये। और फिर बस्तियों से कारखानों की ओर आना होगा। कारखाना केन्द्रित आर्थिक संघर्षों का एक नकारात्मक पहलू यह होता था कि यह मजदूरों की निगाह में सिर्फ एक मालिक को दुश्मन बनाता था और मजदूरों की बस्तियों में राजनीतिक माँगों को लेकर होने वाला संघर्ष किसी एक मालिक नहीं बल्कि पूरे मालिक वर्ग और व्यवस्था को कठघरे में खड़ा कर देता है। तो मजदूरों के बीच कामों की मुश्किलों के नकारात्मक को ठोस परिस्थितियों के विश्लेषण के आधार पर नयी योजनाएँ बनाकर सकारात्मक में तब्दील किया जा सकता है। ठीक उसी तरह छात्रों-युवाओं को संगठित करने के कामों की मुश्किलों को भी

सकारात्मक में बदला जा सकता है। यह सच है कि आज अलग से कोई छात्र आन्दोलन सम्भव नहीं है। तो आज हमें करना क्या होगा?

आज हमें सिर्फ छात्र आन्दोलन के बारे में नहीं बल्कि छात्र-युवा आन्दोलन के बारे में सोचना होगा। हमें कैम्पसों के बाहर पड़ी उस विशाल युवा आबादी को जोड़ना होगा जो बेरोज़गार घूम रही है, छोटे-मोटे काम कर रही है, छोटी-मोटी प्रतियोगी परीक्षाएँ दे रही है, या जिन्दगी की कोई राह तलाश रही है। ऐसी नौजवान आबादी को संगठित करने के लिए हमें निम्न-मध्यवर्गीय कालोनियों, बस्तियों में जाना होगा और उनके बीच सांस्कृतिक कार्य करते हुए, वहाँ के नागरिक अधिकारों को लेकर लड़ते हुए, सुधार कार्य करते हुए, दमन-उत्पीड़न के तमाम रूपों के खिलाफ संघर्ष करते हुए उन्हें गोलबन्द और संगठित करने का काम करना होगा। हमें उनके बीच रहते हुए उनमें व्याप्त अन्धविश्वासों, रूढ़ियों के खिलाफ संघर्ष करना होगा और उनके बीच तार्किकता का प्रचार करना होगा। साथ ही हमें उनके रोज़मर्रा के संघर्षों में उनके साथ कंधे से कंधा मिलाकर लड़ना होगा। इसके अतिरिक्त, हमें लगातार उनके बीच राजनीतिक प्रचार करना होगा और विकल्प की बात करनी होगी। हमें उनके बीच संगठन बनाने होंगे और एक वर्ग एकजुटता कायम करनी होगी।

लेकिन हमें कैम्पस को छोड़ नहीं देना होगा। वहाँ हमें आम मध्य वर्ग और निम्न-मध्य वर्ग के उन तमाम युवाओं को संगठित करना होगा जो किसी तरह कैम्पस में पहुँच पा रहे हैं। इसके साथ ही हमें उच्च और खाते-पीते मध्य वर्ग के उन नौजवानों को भी खोजना होगा जो इस हद तक संवेदनशील और न्यायप्रिय हैं कि अपने वर्ग हितों का त्याग करके अपने सपनों और आकांक्षाओं को इस देश की उस बहुसंख्यक आम मेहनतकश आबादी के सपनों और आकांक्षाओं के साथ जोड़ सकते हैं, जो उनके अस्तित्व की भी हर शर्त को पूरा कर रही है लेकिन जो उनकी तरह अपने बच्चों को कॉलेजों-कैम्पसों में नहीं भेज सकती। हमारा मानना है कि हमारे देश ने ऐसे नौजवानों को पैदा करना अभी बन्द नहीं किया है। और भारत में इन्क़लाब के किसी भी प्रोजेक्ट की तैयारी में आज शुरुआती दौर में ऐसे नौजवानों की बेहद ज़रूरत है जो सक्षम संगठनकर्ता की भूमिका को निभा सकें; जिनके पास इतिहास, समाज और विज्ञान का ज्ञान हो। ऐसे में कैम्पस से आने वाले, अपने वर्ग से अलग होकर मेहनतकश वर्गों के पक्ष में आकर खड़े होने वाले इन युवाओं की एक खास भूमिका बन जाती है। ऐसे छात्रों को हमें लगातार कैम्पस में जोड़ना होगा और उन्हें लेकर मज़दूर बस्तियों, निम्न-मध्यवर्गीय कालोनियों, कारख़ाना गेटों आदि पर जाना होगा और शहीदे-आज़म भगतसिंह के उसी सन्देश पर अमल करना होगा कि आज देश के छात्रों-युवाओं को क्रान्ति के सन्देश को लेकर इस देश की मज़दूर बस्तियों, गाँव की जर्जर झोंपड़ियों, कारख़ानों

आदि में जाना होगा। कैम्पस में और उसके बाहर भी, छात्र-युवा आन्दोलन की केन्द्रीय माँग आज एक ही हो सकती है — ‘सबको समान एवं निःशुल्क शिक्षा और सबको रोज़गार।’ इससे कम हम किसी भी माँग को सुधारवादी और उदारवादी मानते हैं। इस मुद्दे पर होने वाला संघर्ष ही हमें आगे की राह दिखायेगा। इस माँग पर छात्र-युवा आन्दोलन ही हमें और बुनियादी मुद्दों तक लेकर जायेगा। आज के समय का सही संघर्ष इसी माँग को लेकर हो सकता है।

यह सच है कि यह माँग इस व्यवस्था के भीतर रहते पूरी नहीं हो सकती है। लेकिन इस बात को व्यापक छात्र-युवा आबादी व्यवहार से ही समझ सकेगी। छात्रों-युवाओं के बीच के उन्नत तत्त्व तो शुरू से ही उस व्यापक संघर्ष की तैयारी में लग जायेंगे जो इस पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ़ है, लेकिन आम छात्र-युवा आबादी शिक्षा और रोज़गार के मुद्दे को लेकर संघर्ष करते हुए ही इस सच्चाई को समझ सकती है कि इस व्यवस्था की चौहदियों के भीतर रहते हुए सबको शिक्षा और सबको रोज़गार की माँग पूरी नहीं हो सकती।

इसलिए हमें कुछ बातों को नुक्तेवार समझ लेना होगा। एक, आज सिर्फ़ छात्र आन्दोलन की सम्भावनाएँ कैम्पस का वर्ग-चरित्र बदलने के कारण नगण्य हो गयी हैं। दो, आज हमें कैम्पस के बाहर मौजूद व्यापक आम युवा आबादी को गोलबन्द और संगठित करना होगा और एक युवा आन्दोलन को खड़ा करके उसे छात्र आन्दोलन से जोड़ना होगा। तीन, आज छात्र-युवा आन्दोलन की केन्द्रीय माँग सबको समान एवं निःशुल्क शिक्षा व सबको रोज़गार ही हो सकता है। चार, इस पूरी प्रक्रिया में हमें बुर्जुआ चुनावी राजनीति और एन.जी.ओ. राजनीति को बेनकाब करना होगा और उससे दूर रहना होगा। इन नुक्तों पर अमल करके ही हम कैम्पसों के बदलते वर्ग-चरित्र के कारण उपस्थित चुनौतियों का मुक़ाबला कर सकते हैं और सामाजिक बदलाव के नये झंझावाती संस्करण रच सकते हैं।

